SIDDHA SARHAPA KI HINDI AUR ODIYA RACHNAON KA TULNATMAK ADHYAYAN

A Dissertation submitted to the University of Hyderabad in partial fulfilment of the degree of

MASTER OF PHILOSOPHY

In HINDI in the Year- 2022

Researcher

KARAMCHAND SAHOO

20HHHL04

Supervisor

PROF. GAJENDRA KUMAR PATHAK

Department of Hindi

School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad- 500046

Telengana

India

सिद्ध सरहपा की हिंदी और ओड़िया रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन

हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम. फिल. (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोधप्रबंध

वर्ष-2022

शोधार्थी

करमचंद साहू

20HHHL04

शोध निर्देशक

प्रो. गजेंद्र कुमार पाठक

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद- 500046

तेलंगाना

भारत

DECLARATION

I, **KARAMCHAND SAHOO (Registration no. 20HHHL 04)** hereby declare that dissertation entitle **“SIDDHA SARHAPA KI HINDI AUR ODIYA RACHNAON KA TULNATMAK ADHYAYAN” (सिद्ध सरहपा की हिंदी और ओड़िया रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन)** submitted by me under the guidance and supervision of **PROF. GAJENDRA KUMAR PATHAK** is a bonafide plagiarism free research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full of this or any other University or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in **Shodhganga/Inflibnet.**

Signature of the Student

Karamchand Sahoo

Registration Number- 20HHHL04

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"SIDDHA SARHAPA KI HINDI AUR ODIYA RACHNAON KA TULNATMAK ADHYAYAN" (सिद्ध सरहपा की हिंदी और ओड़िया रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन)** submitted by **Karamchand Sahoo** bearing Regd. No. **20HHHL04** in partial fulfilment of the requirements for the award of **MASTER OF PHILOSOPHY** in **HINDI** is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

As for as I know, this dissertation is free from plagiarism and has not been submitted previously in part of full to this of any other University or institution for award of any degree or diploma.

Signature of Supervisor

Prof. Gajendra Kumar Pathak

Head of the Department

Prof. Gajendra Kumar Pathak

Dean of the School

Prof. V. Krishna

अनुक्रमणिका

1. प्रस्तावना
2. प्रथम अध्याय : हिंदी साहित्य जगत् में सिद्ध सरहपा
   - 2.1. अध्याय का सामान्य परिचय
   - 2.2. हिंदी के विद्वानों के अनुसार सिद्ध सरहपा का व्यक्तित्व
     - 2.2.1. हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के अनुसार सिद्ध सरहपा का व्यक्तित्व
     - 2.2.2. हिंदी के महान् खोजी भदंत राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सरहपा का व्यक्तित्व
     - 2.2.3. हिंदी के शोधकर्ताओं के अनुसार सिद्ध सरहपा का व्यक्तित्व
     - 2.2.4. हिंदी के कथा-साहित्य में सिद्ध सरहपा
   - 2.3. हिंदी के विद्वानों के अनुसार सिद्ध सरहपा का कृतित्व
   - 2.4. निष्कर्ष
3. द्वितीय अध्याय : ओड़िया साहित्य जगत् में सिद्ध सरहपा
   - 3.1. अध्याय का सामान्य परिचय
   - 3.2. ओड़िया के आदिकवि कौन हैं?
   - 3.3. ओड़िया के विद्वानों के अनुसार सिद्ध सरहपा के व्यक्तित्व-कृतित्व
   - 3.4. निष्कर्ष
4. तीसरा अध्याय : भारतीय इतिहास में सिद्धों तथा सिद्ध सरहपा का उदय तथा हिंदी के विद्वानों की इतिहास-दृष्टि और सिद्ध सरहपा(आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भदंत राहुल सांकृत्यायन, धर्मवीर भारती के विशेष संदर्भ में)
   - 4.1. अध्याय का सामान्य परिचय

4.2. भारतीय इतिहास जगत् में सिद्धों तथा सिद्ध सरहपा का उदय

4.3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि और सिद्ध सरहपा

4.3.1. 'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा लिखा हिंदी का पहला मुकम्मल इतिहास

4.3.2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की शुद्धतावादी दृष्टि और सिद्ध सरहपा

4.3.3. किसी साहित्यकार की महानता महान् इतिहासकार के दर्ज़े पर निर्भर है

4.3.4. साहित्य की 'प्रचुरता और प्रसिद्धि', साहित्य का इतिहास तथा उसमें सिद्धों समेत सरहपा को प्राप्त स्थान

4.3.5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अपभ्रंश काव्य संबंधित दृष्टि और सिद्ध सरहपा

4.3.6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा सिद्ध सरहपा की एक पंक्ति की ग़लत व्याख्या

4.3.7. निष्कर्ष

4.4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और सिद्ध सरहपा

4.4.1. 'हिंदी साहित्य भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास है' के परिप्रेक्ष्य से सिद्ध सरहपा

4.5. भदंत राहुल सांकृत्यायन की इतिहास दृष्टि और सिद्ध सरहपा

4.6. धर्मवीर भारती का शोध-विवेक और सिद्ध सरहपा

4.7. निष्कर्ष

5. चतुर्थ अध्याय : सिद्ध सरहपा तथा उनकी रचनाओं की ऐतिहासिकता

5.1. अध्याय का सामान्य परिचय

5.2. सिद्ध सरहपा कहाँ के थे?

5.3. सिद्ध सरहपा का समय तथा उनकी ऐतिहासिकता (मिथक से इतिहास तक)

5.4. सिद्ध सरहपा की काव्य भाषा में हिंदी तथा ओड़िया भाषा के अंश

5.5. सिद्ध सरहपा के दोहाकोश की लिपि

5.6. सिद्ध सरहपा से संबंधित प्रत्नतात्विक साक्ष्य

5.7. परवर्ती हिंदी तथा ओड़िया भक्तिकाव्य परंपरा में सिद्ध सरहपा के अवशेष का संक्षिप्त परिचय

5.8. निष्कर्ष

6. उपसंहार

7. आधार ग्रंथ सूची

8. संदर्भ ग्रंथ सूची

9. पत्र-पत्रिकाएँ

10.इंटरनेट से प्राप्त सामग्रियाँ

11.परिशिष्ट

<u>प्रस्तावना</u>

"तबतक **शाम (संध्या)** हो गई थी। आसपास के ऊँचे-ऊँचे **टीलों** पर **डूबते हुए सूरज** की बहुत **लाल धूप** कुछ टिक सी गई थी। उन **टीलों** के बीच छुटती हुई गहराइयों से **अँधेरा** धीरे-धीरे किसी **एक अदृश्य परंपरा की भाँति** निकल रहा था। रामदास ने सोचा कि जब **दो युग** मिलते हैं, तब ऐसा होता है। यह **संधिकाल** है। न जाने किस **अतल से कुछ उभरता** है। तब नहीं जान पड़ता कि क्या हो रहा है, पर जब सबकुछ धीरे-धीरे एक **नए तत्व** में ढल जाता है, तब जान पड़ता है कि **जो पहले था, वह अब नहीं रहा**। तब **लोग** बाहर आते हैं और कहते हैं कि **यह नया तत्व हमसे पैदा हुआ है**। वह नजाने किस अतल से आता है। कितनी **प्राण चेष्टाएँ** उसे ऊपर उभारती हैं, उन्हें कई नहीं जान पाता..."[1]

सरहपा, उनका समय तथा उनके 'लोक' को समझने के लिए उपर्युक्त गद्यांश से हम गुजर सकते हैं। ऊपर से यह एक उपन्यास का अंश लगेगा। लेकिन ध्यान से देखने से इसमें सरहपा के आविर्भाव के समय को हम महसूस कर पाएँगे। यह सच है, सिद्ध सरहपा से इस उपन्यास का कोई संबंध नहीं है, किंतु तथापि पता नहीं क्यों इन पंक्तियों की यात्रा में सिद्ध सरहपा के आविर्भाव की गाथा गुंथी हुई दिख रही है। शाम(संध्या), डूबते सूरज, लाल धूप, टीला, अँधेरा, एक अदृश्य परंपरा की भाँति, दो युग, संधिकाल, अतल से उभरना, नए तत्व, जो पहले था, वह अब नहीं रहा, लोग, नया तत्व हमसे पैदा हुआ है, प्राण चेष्टाएँ जैसे पदों को ध्यान से अगर देखा जाए तो यह महसूस होगा कि ये सरहपा के अवतरण के बारे में कुछ कह रहे हैं, हालाँकि सरहपा का इन पंक्तियों से कोई सीधा संबंध नहीं है। इन पदों के व्यंग्यार्थ में विचरण करके निम्नलिखित वाक्य गढ़े जा सकते हैं-

[1]शुक्ल श्रीलाल, *सूनी घाटी का सूरज,* पृ-8

“उस समय तक संध्या हो गई थी, यानी एक युग के अंत के साथ, नये युग का आरंभ हो रहा था। यह प्रक्रिया त्वरित नहीं थी, बल्कि धीरे-धीरे संपन्न हो रही थी। ऊँचे-ऊँचे टीलें राजाश्रय बौद्ध-मठों के प्रतीक हो सकते हैं, जिनमें डूबते सूरज (युग) की लाल किरणें (युगानुकूल तथा लोकानुकूल क्रियाएँ और मान्यताएँ) कुछ टिक सी गई थीं। गौतम बुद्ध और असंग के समय से गुप्त रूप से चला आ रहा तंत्रवाद ने भी अपनी गर्दन उचकाई। बुद्ध के कल्याणकारी जीवन-मंत्र मानों कलुषित हो चले थे, उनमें मिलावटें हो गईं थीं। यही वह अवसर था, जब गुप्त- तंत्रवाद, बुद्ध के लोककल्याणकारी जीवन-मंत्र आदि वे ‘अदृश्य परंपराएँ’ थीं, जो युग की माँग से निकल पुनः सिर उठा रही थीं। बौद्धों के उदय से एकाएक जड़ ब्राह्मणवाद का अंत नहीं हो गया था, वह मिट्टी में मानो दब सा गया था और उभरने का उचित अवसर ढूँढ रहा था। साथ ही शैव शशांक जैसे राजाओं के बौद्धों आदि पर अत्याचार बढ़ने लगे थे। उत्तर पश्चिम से बर्बर अरब सेना सांस्कृतिक रूप से सुदृढ़ बौद्धों को धराशायी करती हुई क़दम पसार रही थी। ये सब कुछ एक ही समय हो रहा था। जब दो युग मिलते हैं, ऐसा ही होता है। यह संधि युग था। सत्ता में, संस्कृति में, भाषा में हर जगह फेर बदल हो रहे थे। लोक को बस आभास होता है, लेकिन समझ में लहीं आता कि ये सब कैसे हो रहा है, कहाँ से ये सब आ रहे हैं, इनकी नियति क्या है, आदि। तुरंत कुछ नहीं पता चलता है, पर जब धीरे-धीरे सबकुछ एक नए तत्व में ढलने लगते हैं, तब यह महसूस होता है कि जो सबकुछ पहले से विद्यमान थे, अब वे नहीं रहे। तब ‘लोक’ बाहर आता है और कहता है कि यह नया तत्व मुझसे पैदा हुआ है। कुछ बुरा पैदा हुआ है तो कुछ अच्छा भी जनमा है। अच्छाई ही बुराई से लड़कर लोक का त्राणकर्ता बनेगा। सिद्ध सरहपा वे त्राणकर्ता हैं। ऊपर से यह हास्यास्पद लग सकता है, लेकिन उनकी अर्धप्राप्य रचनाओं तथा विभिन्न किंवदंतियों से अगर हम गुजरेंगे तो हमें पता चलेगा कि ऐसी संधि-बेला में लोक की माँग से ही सिद्ध सरहपा का जन्म हुआ है। कितनी ही प्राण-चेष्टाएँ उसे उभारती हैं, जिन प्राणों को वह राह दिखाता है...”

सिद्ध सरहपा हमारे लिए क्यों महत्त्व रखते हैं? यह सवाल कई जटिल पंखुड़ियों को परत दर परत खोलता जाता है। इसके उत्तर के अन्वेषण निमित्त जितनी गहराई में हम प्रविष्ट होते हैं, उतना ही हम महसूस कर पाते हैं कि सिद्ध सरहपा को समझना इतना आसान नहीं है, खासकर उनके जीवन को समझना एक तरह से दुरूह है। लेकिन निर्विवाद होकर यह कहा ही जा सकता है, भारतवर्ष ने असलियत में एक सिद्ध-गुरु को

पैदा किया था। बुद्ध के बाद वे सिद्ध सरहपा ही थे, जिन्होंने तत्कालीन समाज को बुद्ध की ही तरह प्रभावित और आंदोलित किया था।

बुद्ध और सरहपा में काफी समानताएँ दिखती हैं, अंतर सिर्फ इतना है कि बुद्ध की जीवनी सर्वविदित है, सरहपा आज भी रहस्यमय हैं। सिद्ध सरहपा की कई बातें आज भी रहस्य के पिटारे में क़ैद हैं। यह सवाल पैदा हो सकता है कि बुद्ध और सरहपा में क्या समानताएँ हो सकती हैं? बुद्ध की ही तरह सिद्ध सरहपा भी भारतीय मनीषा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दोनों ने दक़ियानूसी विचारों तथा मान्यताओं को तोड़ा है और समाज को नये मार्ग पर चलाया है। कवि-साहित्यिक दृष्टि से सिद्ध सरहपा बुद्ध से भी दो क़दम आगे ठहरते हैं। यद्यपि प्राप्त रचनाओं में सांप्रदायिक कविताएँ अत्यधिक हैं, किंतु उनमें भी पाखंड-निवारण, समाज-सुधार और कल्याण, सहज जीवन के मंत्र आदि कई मंत्र संश्लिष्ट हैं।

सरहपा तंत्रयान के प्रचारक थे (जो कुछ विद्वानों को अखरता है), किंतु विद्वानों को यह समझना चाहिए कि यह तंत्र, मंत्र आदि चीज़ें वैदिक-काल से भारत में विद्यमान थीं। स्वयं बुद्ध ने भी तंत्र को प्रश्रय दिया था। इसके लिए विनयतोष भट्टाचार्य जी की पुस्तक 'बुद्धिस्ट एस्टोरिज़्म' को देख सकते हैं-

"It was to satisfy this second class of the laity that Buddha had to incorporate some sort of Mantras, Dhaaranis, Mudras and Mandalas, so that those that might wish to have prosperity in the present birth would feel satisfied by practising them… In the 'Manjushreemulakalpa' which form part of the extensive Vaipulyasutra literature of the Buddhists and was probably composed in the first century of of the Christian Era, we find quite an astonishing number of mantras, Mudras, Mandalas and Dharanis, which must have taken their origin in the early centuries B.C., and probably from the time of Buddha himself… "[2]

[2] भट्टाचार्य विनयतोष- *ऑरिज़िन ऑफ बुद्धिस्ट मैज़िक, आन इंट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज़म*, पृ- 18-19

यानी बुद्ध को भी कुछ, मंत्र, धारणी, मुद्रा, मंडल आदि को समर्थन करना पड़ा था। सिद्ध सरहपा आदि सिद्धों में एक थे। उनके समय तक तंत्र-मंत्र आदि क्रियाएँ कुछ उजागर कुछ गुप्त रूप से समाज का हिस्सा थीं। यद्यपि आगे इनमें अति का समावेश हुआ, किंतु इस बात के लिए हम सिद्ध सरहपा को दोष नहीं दे सकते। आज की परिस्थिति में बैठकर हम तब की आलोचना कर नहीं सकते हैं। तब जो चीज़ें समाज में बद्धमूल थीं, आज वे नहीं हैं। आज जो चीज़ समाज को मान्य या शील है, हो सकता है, कल को वह अमान्य तथा अश्लील हो जाए। अतः हमें उस युग की परिस्थिति को उस युग कि दृष्टि से ही उस युग में एक तरह से 'समय परिभ्रमण'(Time Travel) कर के समझना होगा। हमें अपनी मान्यताओं, आरोपों, विचारों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा। सरहपा आदि की पुनर्व्याख्या करनी होगी। तब जा कर हम सरहपादि सिद्धों पर न्याय कर सकेंगे। इसमें मानवता का कल्याण निहित है। उपर्युक्त बुद्ध तथा तंत्रक्रिया संबंधित तथ्य को पढ़कर हम यह मान सकते हैं कि अगर तंत्रक्रियायों को जीवन के साथ जोड़कर सरहपा ने कुछ ग़लत किया है, तो जितने सरहपा उत्तरदायी होंगे, बुद्ध भी उतने ही उत्तरदायी होंगे। यद्यपि बुद्ध ने उन क्रियायों को नहीं किया था, लेकिन प्रश्रय अवश्य दिया था। ये क्रियायों अपने कई रूप में वैदिक काल से समाज में मौजूद थीं। तब आज की तरह विज्ञान नहीं था, इन्हीं क्रियायों की मदद से तब लोग विभिन्न रोगों, ज़ानवरों, विषधर जीवों तथा प्राकृतिक आपदायों से बच सकते हैं, यह विश्वास रखते थे। आज भी यह विश्वास और क्रियायें समाज से पूरी तरह से उच्छिन्न नहीं हुए हैं। अतः जो विद्वान सिद्ध सरहपा पर तंत्र-मंत्र के आरोप लगाते हैं, उन्हें इस विषय में दुबारा सोचना चाहिए कि सिद्ध सरहपा ने तंत्र-मंत्र को क्यों अपनाया होगा?

सिद्ध सरहपा के नाम से जो चर्याएँ मिलती हैं, वे 'बौद्धगान ओ दोहा' में संकलित हैं। इनके अलावा उनके नाम से मिलने वालीं तथा अनूदित दोहों का संकलन अलग-अलग विद्वानों अलग-अलग समय में अलग- अलग भाषाओं में (बांग्ला तथा हिंदी विशेषतः) 'दोहाकोश' या 'दोहाकोष' के नाम से संपादित किया है। उन पुस्तकों में उन्होंने इन कविताओं को उद्धृत करते हुए, सरहपा के विचार, जीवन, भाषा, परंपरा, कमियाँ-विशेषताओं आदि को रेखांकित किया है। सरहपा की एक ही तरह की पंक्तियों को हिंदी के विद्वानों ने हिंदी की दृष्टि से, बांग्ला के विद्वानों ने बांग्ला तथा ओड़िया के विद्वानों ने ओड़िया की दृष्टि से उद्धृत किया है। ऐसा करते वक्त अधिकांश विद्वानों ने न सिर्फ सरहपा को उनके कवि घोषित किया है, बल्कि उन पंक्तियों

के कलेवर को भी स्व-भाषा में बदलने की कोशिश की है।इस शोध में विभिन्न लेककथाओं, वैज्ञानिक साक्ष्यों, प्रत्नतात्विक तथ्यों, भाषातात्विक अध्ययन आदि की सहायता से सरहपा की स्व-पहचान को पुनःस्थापित करने की जगह-जगह कोशिश की गई है। साथ ही उनपर तथा अन्य सिद्धों पर लगे विभिन्न आरोपों पर विचार भी किया गया है। सिद्ध तथा सरहपा वे कड़ी हैं, जिनके बिना भारतीय साहित्य के सार्वभौमिक इतिहास की कल्पना करना असंभव है। अतः यह प्रयास किया गया है कि भारतीय इतिहास के संदर्भ में सिद्ध सरहपा के महत्व को रेखांकित किया जा सके।

मैंने इस लघु शोध प्रबंध को चार अध्यायों में बाँटा है। पहले अध्याय में हिंदी के विद्वानों के अनुसार सरहपा के व्यक्तित्व-कृतित्व का विवरण प्रस्तुत किया है। दूसरे अध्याय में सिद्ध सरहपा के व्यक्तित्व-कृतित्व के संबंध में ओड़िया के विद्वानों ने क्या तथ्य दिए हैं, उनका उल्लेख है। तृतीय अध्याय में सरहपा से संबंधित हिंदी के चार बड़े आलोचकों के मतों की छानबीन की गई है। चतुर्थ अध्याय में सरहपा के अस्तित्व, जन्म-कर्म आदि के संबंध में हिंदी और ओड़िया के विद्वानों के मतों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, जिसमें सरहपा के अस्तित्व और उनकी ऐतिहासिकता की खोज की गई है।

"काअ णाबड़ि खाँटि मण केड़ुआळ/ सद्गुरु बअणे धर पतबाळ (पतवार)"

कई मुश्किलें थीं, किंतु मार्गदर्शक प्रो. गजेंद्र कुमार पाठक सर ने जो मार्ग दिखाया और समय-समय पर जो शुभ-प्रेरणा दी, उससे शोध में कई मुश्किलें हल हो गई। आदरणीय सर ने कई ज्ञात-अज्ञात पुस्तकों की सूची मुहैया कराई। प्राप्त पुस्तकों को समझने, इतिहास दर्शन को समझते हुए, सरहपा की ऐतिहासिकता की खोज करने में सर की कक्षाओं की भूमिका अधिक रही है। सर ने साहित्य की इतिहास दृष्टि को प्राप्त तथा विकसित करने के लिए हमेशा प्रेरित किया है। डॉ. भीम सिंह सर ने जिस आत्मीयता से मुझे तथ्यों को ढूँढने में राह दिखाई, वह मेरे लिए अधिक महत्व रखती है। शोध के दौरान उन्होंने मुझे कई बार, कई दिशाओं से सोचने के लिए आह्वान दिया। इन सारी बातों के लिए मैं सदा दोनों गुरुओं का ऋणि रहूँगा। मृत्युंजय सर ने शुरू से ही, हिंदी सीखने से लेकर हिंदी में शोध विवेक जगाने में मुझे राह दिखाई है। ओड़िशा में उनका कुछ दिनों का प्रवास मुझ जैसे विद्यार्थी-सोधार्थी के लिए वरदान जैसा रहा।

माता-पिता, भाई-बहन, मामा (प्रथम गुरु) तथा सभी परिवारजनों को में विशेष धन्यवाद् ज्ञापन करता हूँ, कि उन्होंने धैर्य रखकर मुझे शोध करने का अवसर प्रदान किया। मैं आज जो कुछ भी हूँ, उन्हीं की वजह से हूँ। मित्रों की सहायता के बिना मैं असमर्थ था। मित्र राजकमल ने मुझे ओड़िशा के विभिन्न स्थानों के परिभ्रमण में मदद की। उनको सिर्फ धन्यवाद् देना मेरी धृष्टता होगी। समय-समय पर उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाया। सुरेंद्र, आदित्य, बृजेश, सुबिना, स्नेहदीप, तुलसी, अमित तथा शक्ति भाई ने हमेशा से मुझ पर विश्वास बनाए रखा, मैं उनका तह-ए-दिल से शुक्रगुज़ार हूँ।

ओड़िशा के भुवनेश्वर संग्रहालय में कार्यरत प्रीतांशु प्रियदर्शिनी, बारती पाल, शिवप्रसाद पात्र जी को मैं विशेष धन्यवाद् देना चाहता हूँ। उनकी सहायता से सरहपा से जुड़े अवलोकितेश्वर की मूर्ति में उत्कीर्णित अभिलेख के छायाचित्र प्राप्त हो सके, जिनका विभिन्न इतिहास ग्रंथों में सिर्फ ज़िक्र भर हुआ है। उनको मैंने अपने शोध में यथास्थान उद्धृत किया है।

अंत में मैं उन सभी सुधीजनों, लेखकों तथा विद्वानों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके लेखन से सहायक सामग्रियों को लिए बिना यह शोध संभव नहीं था। मैं करमचंद साहू, आप सभी का आभारी हूँ।

धन्यवाद्

प्रथम अध्याय

हिंदी साहित्य जगत् में सिद्ध सरहपा

अध्याय का सामान्य परिचय :

कवि के लिए उसकी रचनाएँ ही उस संजीवनी के समान होती हैं, जो उसे जीवनपर्यंत और जीवनोपरांत बाद अनंत काल तक, लौकिक जगत् में जीवित रखती हैं। समाज में होने वाली हलचल का सीधा और सबसे अधिक असर कवियों तथा कलाकारों पर पड़ता है, क्योंकि ये अन्य के मुकाबले अधिक संवेदनशील होते हैं। कवि का अपना समाज उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। कभी-कभी कवि का महान् व्यक्तित्व भी उसके समाज को प्रभावित कर, उसमें आमूल परिवर्तन कर देता है। इस प्रक्रिया में, कवि के व्यक्तित्व से ऊर्जा ग्रहण करके उसकी रचनाएँ ओजस्वी बन जाती हैं और वे रचनाएँ उसके समाज को प्रेरित कर राह दिखाती हैं। समाज की यथार्थ स्थिति की पुनर्रचना करके सिर्फ कवि अमर नहीं होता, उसके साथ-साथ उसका युग भी अमर हो जाता है। हम उस कवि की रचनाओं को पढ़कर, उसके युग की परिस्थितियों को भी महसूस कर पाते हैं। इस तरह वह सिर्फ कवि नहीं रह जाता, महापुरुष बन जाता है। उसमें युग के गुणात्मक परिवर्तन की क्षमता रहती है। ई. एच. कार की पुस्तक में आया हीगेल का कथन इस दृष्टि से अत्यंत यथार्थपूर्ण लगता है-

‘‘किसी युग का महापुरुष वह व्यक्ति होता है जो उस युग की आकांक्षाओं को शब्द दे सके, युग को बता सके कि उसकी आकांक्षा क्या है और उसे कार्यान्वित कर सके। वह जो करता है वह उसके युग का दृश्य और सार तत्व होता है, वह अपने युग को रूप देता है।[3]

आदि सिद्ध सरहपा अपने युग के वे व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने अपने युग की आकांक्षाओं को शब्द दिया है। उनकी काफी रचनाएँ अब भी अप्राप्य हैं, किंतु जितनी मिली हैं, उनसे उनके युग पुरुष होने का सबूत मिल जाता है।

[3] कार ई. एच. : *इतिहास क्या है*, फिलोसॉफी ऑफ राइट- अंग्रेज़ी अनुवाद,1942, हीगेल, पृष्ठ- 42

सिद्ध सरहपा सिर्फ सिद्ध ही नहीं, एक कवि भी थे। वे महान् व्यक्तित्व के धनी थे। उनको समाज ने तथा उसमें फैली धार्मिक-सामाजिक कुंठाओं ने झकझोरा था। उन्होंने उन बुराइयों से लड़ने के लिए कविता रूपी अमोघास्त्र का चुनाव किया। उनके मुख से ऐसी वाणियाँ निकलीं, जिन्होंने तबके समाज में फैली बुरी शक्तियों से लड़ाई कीं और त्रस्त-स्रस्त जनता को नवीन राह दिखाई। उन्होंने कई जड़ मान्यताओं का खंडन किया था और अपने युग के अन्य सिद्धों को उस राह में चलकर समाज के कल्याण के लिए प्रयासरत होने का आह्वान दिया था।[4] यद्यपि आगे के सिद्धों ने उस राह पर कदम भी बढ़ाए किंतु विनयतोष जी जैसे विद्वानों को मानें तो, उनमें से अधिकांश सिद्धों ने उसे दूषित भी किया। उनके समय तक आते-आते बौद्ध-दर्शन छोटी-छोटी धाराओं में बंटकर अपनी परिणति तक पहुँच चुका था। यों कहें तो बौद्ध 'बौद्ध' बनकर नहीं रह गया था। समाज को नवीन नायक की दरकार थी। सरहपा ने इस कर्तव्य को सहर्ष स्वीकार किया। इसके लिए उन्हें काफी चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा। किंतु वे टूटे नहीं अपितु डटे रहे। सरहपा ने अपनी रचनाओं के ज़रिए, अपने समय के समूचे समाज को जागरुक बनाने की चेष्टा की।[5] इस तरह सरहपा ने राहुलभद्र(ब्राह्मणत्व) से सरहपाद(शर बनाने वाली जाति से संबंधित) तक का सफ़र पूरा किया। इस प्रक्रिया में उस समय उन्हें कितनी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा होगा, यह कल्पनातीत है। उनको अपने समाज, ब्राह्मण-संस्कृति, जड़ बौद्ध-दर्शन, राजतंत्र तथा अपनी आर्थिक-सामाजिक स्थिति से लड़ाई करनी पड़ी। उन्होंने लड़ाई भी की और जीत भी हासिल की, जिस कारण आज वे अमर हैं। यहाँ डॉ. लेविस का मंतव्य महत्वपूर्ण है-

"महान् लेखक इसलिए महत्वपूर्ण होते हैं कि वे मानवीय जागरूकता को प्रचारित करते हैं।"[6]

---

[4] जो अत्थीअण ठीअउ, सो जइ-जइ णिरास/ खंडसरावें भिक्ख वरु, च्छाडहु ऐ गिहवास/ पर उआर ण कीअउ, अत्थि ण दीअउ दाण/ एहु संसारे कवण फलु, वरु छड्डहु अप्पण... सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 30

[5] अंधार प्रकटै, (तो) ज्ञान न प्रकटै, अंधार प्रकटन ते दुख प्रकटन होई..., वही, पृ-91

[6] कार, ई. एच. : *इतिहास क्या है*, पृष्ठ- 42

सिद्ध सरहपा महान् लेखक थे, जिन्होंने मानवीय संवेदनाओं को समझा था और उन्हें उस सांध्य काल में मानवता के नाते प्रचारित किया था। तभी वे आज के विद्वानों के लिए प्रासंगिक हो गए हैं। उनके जीवन के अध्ययन के लिए कई बड़े नामी विद्वानों ने अविस्मरणीय पहल की है। कुछ ने उनको समझा है, कुछ ने अनदेखा सा किया है। जिनका सम्यक् लेखाजोखा निम्नवत् है-

<u>हिंदी के विद्वानों के अनुसार सिद्ध सरहपा का व्यक्तित्व :</u>

सरहपा को विरल व्यक्तित्त्व प्राप्त था या यों कहें तो उन्होंने उसे स्वयं विकसित किया था। मानवीय जागरूकता के वे सच्चे प्रचारक थे। यद्यपि उनके जीवन के बारे में कुछ अधिक यथार्थ साक्ष्य नहीं मिलते, तथापि उनके रचना-कर्म से जो कुछ भी हमें आभास मिलता है, वह सागर की तरह अथाह है। उन पर शोध करके, उन पंक्तियों की शाखों से गुज़रकर कई हिंदी, बांग्ला, ओड़िया तथा पाश्चात्य विद्वानों ने सरहपा के व्यक्तित्त्व को समझने-बूझने की कोशिश की है। इसके लिए उन्हें कई दुस्साध्य, ख़तरनाक सफ़रों को पार करना पड़ा है। समाज, भूगोल और ढलती उम्र आदि से होड़ करनी पड़ी है। भावी शोधकर्ता उनकी जितनी भी शुक्रिया अदा करे, वह न्यून है, क्योंकि वे न होते तो शायद सरहपा जैसे महात्मा बौद्ध-सिद्ध आज हमारे बीच न होते। भारत ने तथा उसके 'लोक' ने तो उनको प्रत्यक्ष लगभग भुला ही दिया था। अगर इन इतिहास-रक्षकों ने अपनी जान-जवानी की बाजी न लगाई होती, तो सिद्ध-सरहपा की अपार-साहित्य-संपदा में से बची-खुची राशि, जो आज हमारे समक्ष मौज़ूद हैं, वे न रहतीं। इसने एक और समस्या को जन्म भी दिया कि उनपर जितने विद्वानों ने काम किया, वे उतने ही पाटों में बंटते गए। परिणाम यह हुआ कि सरहपा इतिहास के सबसे विवादित व्यक्तियों में एक बनकर रह गए।

हिंदी में हमें चार सूत्रों से सरहपा के जीवन के बारे में पता चलता है। एक इतिहास ग्रंथों से, दूसरा सरहपा संबंधित स्वतंत्र ग्रंथों से, तीसरा शोध-जन्य ग्रंथों से तथा उनसे संबंधित कलात्मक रचनाओं से। एक-एक करके हम उन चारों सूत्रों के बारें में जानेंगे।

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के अनुसार सिद्ध सरहपा का व्यक्तित्व:

हिंदी साहित्य जगत् में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इतिहास सर्व प्रथम परिपक्व इतिहास ग्रंथ है, यद्यपि उनसे पहले काफी छोटी-बड़ी कोशिशें हो चुकी थीं। इन कोशिशों का यद्यपि ऐतिहासिक महत्व है, किंतु सरहपा के मामले में इनका कोई उपयोग नहीं है। फिर भी सिद्ध सरहपा को समझने के लिए उनका अति सामान्य परिचय ज़रूरी है क्योंकि इसे संयोग माना जा सकता है कि जैसे हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन, हिंदीतर- एक विदेशी द्वारा विदेश में आरंभ हुआ, वैसे ही सरहपा का पहला दस्तावेजीकरण हिंदीतर क्षेत्र बंगाल में आरंभ हुआ । इतिहास लेखन के लिए सामग्रियों की खोज करने के लिए देश के दरबारों, पुस्तकालयों आदि को खंगाला गया, फिर भी सरहपा का नामोनिशां नहीं मिला, सरहपा विदेश में मिले। आचार्य रामकुमार वर्मा ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा के आरंभ के बारे में बताते हैं, जिसमें उन्होंने हिंदी साहित्य का आरंभ सं 700 यानी सिद्ध सरहपा आदि के समय से माना है। वे लिखते हैं-

"किसी निर्जन वन-प्रदेश की शैवालिनी की भाँति हिंदी साहित्य की धारा अबाध रूप से तो अवश्य प्रवाहित होती रही, किंतु उसके उद्गम और विस्तार पर आद्यंत और विस्तृत दृष्टि डालने का प्रयास बहुत दिनों तक नहीं हुआ। अपभ्रंश-भग्नावशेषों को लेकर हिंदी के निर्माण काल के समय(लगभग सं. 700) से विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिंदी साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्न-राशि के समान पड़ा रहा; उसको संग्रह करने का प्रयास किसी के द्वारा नहीं हुआ। किसी काल-विशेष के कवि द्वारा किए गए अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा भक्त के विषय में उल्लेख अवश्य मिलते हैं, पर वे व्यष्टि रूप से हैं, समष्टि रूप से नहीं।..."[7]

[7] वर्मा, रामकुमार, *हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*, पृष्ठ-1

इस तरह हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन 19 वीं शताब्दी में शुरू हो जाता है किंतु उसमें सरहपा को स्थान लगभग 100 साल बाद मिलता है,जबकि आदि सिद्ध सरहपा से ही हिंदी साहित्य का इतिहास शुरू हुआ है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन परंपरा का संक्षिप्त विवरण देना समीचीन होगा, क्योंकि इससे सरहपा का आविष्कार जुड़ा हुआ है। गासां द तांसी ने सन् 1839 में फ्रेंच भाषा में 'इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' लिखी, जो हिंदी साहित्य का पहला इतिहास ग्रंथ माना जाता है, यद्यपि इसमें ऐतिहासिकता कम ही थी। बक़ौल आचार्य राम कुमार वर्मा -

"कवि के नामों का सबसे पहला संग्रह, जो इतिहास के रूप का आभास मात्र है, फ्रेंच साहित्य में गार्सैं द तासी लिखित 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी' है।...इसमें अंग्रेज़ी-वर्णक्रम से हिंदी और उर्दू के कवियों एवं कवयित्रियों का विवरण दिया गया है। ... ये तीन भाग 1834 पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। ...यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि हिंदी साहित्य का प्रथम विवरण हिंदी लेखकों द्वारा न लिखा जाकर विदेशी साहित्य में किसी विदेशी द्वारा लिखा जाये। विदेशी भाषा में लिखे जाने पर भी इस ग्रंथ का महत्व है..."[8]

हालांकि इस ग्रंथ में कई कमियाँ हैं, फिर भी इसके ऐतिहासिक महत्व को नकारा नहीं जा सकता। कुछ हो न हो साहित्य के इतिहास लेखन की पहल तो हुई। इसके बाद शिव सिंह सेंगर ने सन् 1883 को 'शिवसिंह सरोज' लिखा। सन् 1889 को सर ज़ॉर्ज ग्रियर्सन ने 'द माडर्न वर्नेक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' लिखा।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं- "काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित हिंदी पुस्तकें देश के अनेक भागों में राज पुस्तकालयों तथा

[8] वही, पृष्ठ-2

लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् 1900 से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् 1911 तक अपनी आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया।"[9] इन पुस्तकों के आधार पर 1913 ई. में मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' लिखकर इतिहास लेखन को समृद्ध किया। किंतु इन सब में सिद्ध सरहपा का ज़िक्र नहीं हुआ है, क्योंकि तब तक सरहपा आविष्कृत नहीं हुए थे। क्योंकि सिद्ध सरहपा देश के किसी पुस्तकालय में मौजूद नहीं थे,अगर होते तो 'मिश्रबंधु विनोद' में अवश्य स्थान पाते। वे नेपाल दरबार पुस्तकालय में अन्य सिद्ध कवियों के साथ भारतीय विद्वान की दृष्टि में आने का इंतेजार कर रहे थे। सिद्धों तथा सिद्ध सरहपा पर पूरे भारतीय साहित्य में सन् 1916 से ही चर्चा शुरू हुई, जब महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल दरबीर पुस्तकालय से सरहपा की महज़ चार पंक्तियों समेत सिद्धों के गीतों वाले कविता-गुच्छ का उद्धार किया। साथ ही अलग से उनके दोहों को जोड़कर उसी ग्रंथ में संपादन भी किया। उन्होंने सरहपा सहित **32** सिद्धों को **'बौद्धगान ओ दोहा'** नामक संकलन में स्थान दिया। इससे पहले जर्मन भाषा में एक पुस्तक आ चुकी थी। किंतु यह जर्मन में होने के कारण विद्वानों की दृष्टि से बची रही। **जर्मान** के प्रसिद्ध विद्वान **प्रो. ग्रुएनवेडेल साहेब** ने 1914 ई. में जर्मनी भाषा में **सिद्ध तारानाथ** की रचना को स्थान दिया था**- 'The Mine of Precious Stone(Edelstein Mine)'**, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद **1944 ई.** में **'Mystic tales of Lama Taranath'** नाम से प्रकाशित हुआ।[10] यह आगे चलकर इतना महत्वपूर्ण हुआ कि लगभग सभी सिद्धों से संबंधित इतिहासकारों ने इसे (तारानाथ को) ऐतिहासिक आधार बनाया है।

'बौद्धगान ओ दोहा' ग्रंथ इतना महत्वपूर्ण था कि इसके साथ एक कभी न ख़त्म होने वाला विवाद शुरू हो गया कि सिद्ध कवि कहाँ के थे, उनका जन्म कहाँ हुआ था, उनके द्वारा कही गई वाणियाँ

---

[9] शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृष्ठ- 1

[10] दत्त भूपेंद्रनाथ, *मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ*

किसकी संपत्ति हैं, उनकी कर्मभूमि कौन सी थी? इत्यादि- इत्यादि! क्योंकि इनकी पंक्तियों में आज की हिंदी, ओड़िया, बांग्ला, असमिया आदि भाषाओं की प्रचीन-धारा प्रवाहित हो रही है। अतः इन सारी भाषाओं के विद्वानों ने इनपर एकछत्र अधिकार जमाने की कोशिश की।

यहाँ यह प्रश्न उठता है, क्या ये सिद्ध कवि हमारे तथा हम सब की धरोहर नहीं हो सकते? ये सिद्ध थे, यानी ये जन्म-कर्म आदि नश्वर चीज़ों के बंधन से अपने आप को मुक्त कर लिए थे। ये घर-बाहर, जन्म-मरण(अम्हे ण जाणु अचिंत्य जोई/जाम-मरण कइसन होई...), अपना-पराया रूपी माया से ऊपर थे।[11] उनको इन प्रश्नों से कोई फर्क तक नहीं पड़ा होगा कि उनका जन्म कहाँ हुआ था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो उन्होंने इन सबके बारे में, अपनी रचनाओं में कहीं न कहीं विवरण अवश्य प्रस्तुत किए होते। यह भी सत्य है कि इनके संपूर्ण रचना कर्म अभी तक प्राप्त नहीं हो पाए हैं। केवल सांप्रदायिक रचनाएँ ही उपलब्ध हैं, वे भी प्रक्षिप्त हैं। वैसे भी सिद्धों-योगियों आदि मनीषियों के लिए जन्म महत्व नहीं रखता, कर्म महत्व रखता है। सिद्धि प्राप्ति या सिद्ध बनने से पहले उनका जीवन कैसा था, यह महत्व नहीं रखता, सिद्ध बनने के बाद का जीवन प्रासंगिक है, वही महत्व रखता है। हमारे लिए दस्यु रत्नाकर कोई महत्व नहीं रखता, महर्षि वाल्मीकि प्रासंगिक हैं। अतः सिद्धों के जन्म-स्थान को लेकर जन्म लिए विवाद की कोई प्रासंगिकता नहीं है। यह आधुनिक आंचलिकतावादी तथा राजनीतिक संकीर्णतावादी दृष्टिकोण का नतीजा है, जिसमें बड़े-से-बड़े इतिहासकार भी शामिल हो गए हैं।

बहर हाल 1916 ई. में बंगाक्षर में 'बौद्धगान ओ दोहा' नामक ग्रंथ छपा। बंगाक्षर में लिखे होने के कारण दो बातें हुई। एक तो अन्य भाषाओं के आलोचकों और इतिहासकारों का ध्यान इस ओर शीघ्र गया ही नहीं, जो बाद में इस विवाद में शामिल हुए।[12] दूसरी बात यह हुई कि बंगाक्षर तथा बंगाल

[11]घर में न रहो, न ही वन में, सब जगह तो निरंतर बोधी(परमज्ञान) हैं, फिर कहाँ भव और कहाँ निर्वाण? न घर में बोधी है न वन में... सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 27

[12] पुस्तक नाना दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण थी। परंतु जान पड़ता है, कि बंगाक्षर में छपी होने के कारण हिंदी के विद्वानों का ध्यान इस ओर उस समय आकृष्ट हो न सका... द्विवेदी, हजारीप्रसाद: *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृ- 6

के मनीषियों के द्वारा आविष्कृत होने के कारण उसमें बंगाल का प्रभुत्व रहा। 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' की भाँति सरहपा आदि सिद्ध कई समय तक बंगाल के ही बनकर रह गए।

हिंदी के इतिहासकारों ने सरहपा को उद्धृत करते वक्त राहुल सांकृत्यायन को आधार बनाया है, किंतु वे उनसे उतना ही ग्रहण करते हैं जितना हिंदी भाषा या प्रदेश से संबंधित है। डॉ. धर्मवीर भारती जी ने विभिन्न ऐतिहासिक साक्ष्यों के द्वारा राहुल जी के मतों को अवैज्ञानिक सिद्ध किया है। फिर भी इतिहासकार जाने अनजाने में उन्हीं को उद्धृत करते हैं। जहाँ तक राहुल जी द्वारा संकलित सरहपा संबंधित पुस्तकों की बात है, उनका काव्य पक्ष महत्व रखते हैं। उनके द्वारा दिए गए सरहपा संबंधित विवरण संपूर्णतः वैज्ञानिक नहीं हैं, जिसकी चर्चा इस शोध में अनेक जगह की गई है।

भ्रामक तथ्य इतिहास को इतिहास रहने नहीं देते। इस तरह के एक भ्रामक तथ्य का उदाहरण द्रष्टव्य है। **डॉ. नगेंद्र** संपादित पुस्तक में सरहपा के संबंध में 'आदिकाल' के लेखक **डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'** का कथन आश्चर्य में डाल देता है। उन्होंने लिखा है-

"इन सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोंभिपा, कण्हपा, कुक्करिपा हिंदी के मुख्य सिद्ध कवि हैं... इनकी(सरहपा) भाषा सरल तथा गेय है एवं काव्य में भावों का सहज प्रवाह है। एक उदाहरण प्रस्तुत है : नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल, चिअराअ सहाबे मूकल। अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक, निअहि बोहिमा जाहु रे लांक। हाथेरे काकाण मा लोउ दापण, अपणे अपा बुझतु निअन्मण।... सरहपा की इस कविता से स्पष्ट है कि उनकी भाषा तो हिंदी है, केवल उस पर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव है।"[13]

आश्चर्य होता है कि पंक्ति में जिन चंद शब्दों के आधार पर इन्होंने इन पंक्तियों को हिंदी कहा है, वे ओड़िया तथा बांग्ला आदि में भी हूबहू या तिर्यक रूप से व्यवहृत होते हैं, जितना हिंदी में व्यवहृत

[13] नगेंद्र, संपादितः *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृष्ठ- 59

होते हैं, बाक़ी अपभ्रंश का तो अपना वजूद है ही। पता नहीं डॉक्टर साहेब ने किसके आधार पर सरहपा सहित अन्य कवियों को 'हिंदी' कहा है! और किस आधार पर उन्होंने इन पंक्तियों को 'हिंदी' कह दिया, यह पता नहीं चलता। जबकि उस समय न हिंदी ने जन्म लिया था, न ही अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने। तब जो भाषा प्रचलित थी, वह इन भाषाओं से समान रूप से उतना ही संबंध और दूरी बनाई रखती है, जीतना ये भाषाएँ आज एक दूसरे से। हिंदी में प्रचलित कितने ही शब्द ओड़िया और बांगला में भी प्रचलित हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी इन भाषाओं में कई चीज़ें समानता रखती हैं। तो क्या यह मान लिया जाए कि हिंदी की कविता ओड़िया की है या ओड़िया की कविता बांग्ला की है ? जैसे ये भाषाएँ अपनी स्वतंत्र पहचान रखतीं हैं, वैसे ही उस समय की भाषा। अतः इतिहास की इतनी चर्चित पुस्तक में तथ्य संबंधी इतना बड़ा भ्रम, इतिहास लेखन को दूषित करता है। ऐसी ग़लती जानबूझ की गई हो या अनजाने में, लेखक को इससे बचना ज़रूरी है। संपादन के वक्त भी संपादक को तथ्यों की वैज्ञानिकता पर ध्यान रखना चाहिए।

इस तरह अन्य भाषाओं के विद्वानों ने या तो बंगाली भाषा के तथ्यों को यथावत् मान लिया या फिर उनका विरोध-स्वीकरण किया, जो विवाद का कारण बना। काफी बार ऐसा देखा गया कि यह विरोध राजनीतिक, आंचलिक तथा व्यक्तिकेंद्रित हो गया है। क्योंकि सिद्धों तथा सरहपा की पंक्तियों में हिंदी समेत आधुनिक पूर्वी भारत की भाषाओं के पूर्व रक्त संचरित हो रहा है, अतः इन भाषाओं के मनीषी गण इनकी रचनाओं पर दावे करते आए हैं। आश्चर्य की बात है, हिंदी में सरहपा तथा अन्य सिद्धों को इतिहास में पहले स्थान दिया गया, बाद में इनपर दावे किए गए । बंगाल तथा ओड़िशा में सिद्धों को इतिहास में स्थान देने के साथ-साथ उनपर दावे किए गए, कि वे उनके हैं। 'अपना मानना' सही है, 'केवल अपना मानना' भ्रामक है।

हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मुकम्मल इतिहास लेखन के साथ-साथ सिद्धों तथा सरहपा को हिंदी साहित्येतिहास की पूर्वपीठिका में जगह दी। विशेष बात यह है कि उन्होंने इनपर दावे नहीं किए

कि ये कवि हिंदी के हैं। सरहपा तथा सिद्धों पर उन्होंने बात शुरू की। सन् 1929 ई. में शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आया। आचार्य शुक्ल ने बंगाल के विद्वान विनयतोष भट्टाचार्य के 'बुद्धिस्ट एस्टोरिज़म' का हवाला देते हुए लिखा है:-

"सिद्धों में सबसे पुराने 'सरह'(सरोजवज्र भी नाम है) हैं, जिनका काल विनयतोष भट्टाचार्य ने विक्रम संवत् 690 निश्चित किया है।"[14] इतना लिखते ही तथा एक दो पंक्तियों के साथ शुक्लजी ने सरहपा से दामन छुड़ा लिया। किंतु विनयतोष जी की ही तरह[15], शुक्ल जी ने भी सिद्धों को नकारात्मक दृष्टि से देखा। वे लिखते हैं-

"बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण किया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त उनेक बोधिसत्त्वों की भावना की गई जो सृष्टि का परिचालन करते हैं। वज्रयान में आकर महासुखवाद का प्रवर्तन हुआ। प्रज्ञा और उपाय से इस महासुख की प्रप्ति मानी गई। ... निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए- शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् में तो ब्रह्मानंद से सुख के परिमाण का अंदाजा कराने के लिए उसे सहवास सुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया।... शक्तियों सहित देवतओं के युगनद्ध स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं-कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और गुह्य समाज या श्री समाज स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँचे- नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्रप्ति के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिती या महामुद्रा कहते

[14] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृष्ठ-8

[15] विनयतोष ने सिद्धों को रोगाक्रांत घोषित किया है, देखें, *बुद्धिस्ट एसटेरिज़म* की भूमिका

हैं) योग या सेवन आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय देश के पूरबी भागों में(बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।"[16]

ये लगभग 'Buddhist Esoterism' की भाषा तथा उसी का प्रभाव मालूम होता है। उनकी अपनी कमियाँ और सीमाएँ थीं, जिनपर आगे विशिष्ट दृष्टि डाली जाएगी।

आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने भी सरहपा का कोई विशेष जीवन परिचय नहीं दिया है। हाँ, सरहपा की साधना, सरहपा की लोकवादिता, उनका आगे के संत कवियों पर प्रभाव तथा उनकी काव्य कुशलता (दोहा[17]-चौपाई के पुरस्कर्ता के रूप में) पर अवश्य ही उन्होंने विशेष दृष्टि डाली है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से ही सन् 1960 को **शिवपूजन सहाय** ने **'हिंदी साहित्य और बिहार'** नामक पुस्तक छपवाई। उसमें उन्होंने सरहपा का विवरण शास्त्रीजी, डॉ. धर्मवीर भारती और राहुल सांकृत्यायन के तथ्यों के अनुसार दिया है। वे लिखते हैं:-

"आपका नाम राहुलभद्र था। सिद्धि प्राप्ति के पश्चात् आप सरहपा कहलाए। सरहपा के अतिरिक्त सरोजवज्र, सरोरुहवज्र, पद्म, पद्मवज्र भी आपके नाम मिलते हैं। कहते हैं, आप ने शर बनाने वाली किसी कन्या को 'महामुद्रा' बनाकर सिद्धिलाभ किया और स्वयं भी शर बनाने लगे थे। इसी कारण आप

---

[16] शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृष्ठ- 11

[17] *'दोहा' छंद के संबंध में सुरेंद्र कुमार महारणा जी ने एक रोचक तथ्य दिया है-*

"अधिकांश चर्यागीतियों में प्रायः प्रत्येक पद के अंत में 'ध्रुव' लिखा जाता था, जिस कारण प्रत्येक पद के अंत में 'ध्रुव' पद का गान हो रहा होगा। दोहाओं को भी समवेत कंठ से गाया जाता था। 'दुआ' या 'दुआ धरिबा' 'दोहा' शब्द का आधुनिक रूपांतरण है। मुख्य गायक एक पंक्ति को गाता था, बाक़ी सब उस पंक्ति को दोहराते थे (ओड़िया में इसे दुआ धरना या पाळिआ धरना कहते हैं)। राग-संगीत के प्रथम स्रष्टा के रूप में बौद्ध सिद्धगणों को ग्रहण किया जा सकता है।" 'दोहा' हो न हो 'दोहराने' या आवृत्ति से संबंधित है। ओड़िशा में एक प्रकार की परंपरा आज भी विद्यमान है, जिसमें एक गायक धनु को वाद्ययंत्र की तरह इस्तेमाल करता है और दोहे जैसी छोटी-छोटी पंक्तियों को गाता है। संगतकार उन पंक्तियों को दोहराते हैं। यह सिद्धों तथा सरहपा के समय से ही ओड़िशा में विद्यमान है।

सरह कहलाए। एक दूसरी अनुश्रुति के आधार पर आपका जन्म-स्थान उड़ीसा(ओड़िशा) बतलाया गया है।'' [18]

उपर्युक्त उक्ति में सहाय जी ने सरहपा के नाम (बौद्धगान ओ दोहा से तथ्य) तथा जन्म स्थान (सिद्ध साहित्य से तथ्य) के विषय में विवरण प्रस्तुत किया है। किंतु जैसे कि पुस्तक का नाम ह, 'हिंदी साहित्य और बिहार' है, उन्होंने राहुल जी के मतों को उद्धृत कर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि उनका जन्म बिहार में हुआ था। यह सरहपा को हिंदी के सिद्ध करने की अन्य एक कोशिश है।

''महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आपका निवास स्थान नालंदा और प्राच्य देश की राज्ञी नगरी दोनों बतलाया है।... महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'दोहाकोश' में ही राज्ञी नगरी के भंगल और पुंड्रवर्धन प्रदेश में होने का अनुमान किया है। उक्त स्थान बिहार राज्य के ही अंतर्गत है।''[19]

इस तरह उपर्युक्त विद्वानों ने सरहपा के जन्म और जीवन को लेकर जो तथ्य उपलब्ध कराए हैं, वै ऐतिहासिक कम, स्व-स्वीकृत अधिक लगते हैं, जिनपर व्यापकता से विचार करना अभी बाक़ी है।यह काम उलग- अलग स्थान पर अगले अध्यायों में किया जाएगा।

बच्चन सिंह ने 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में सरहपा पर बात करते वक्त राहुल जी आदि का सहारा लिया है। उन्होंने लिखा है-

''राहुल जी के मतानुसार सरहपा पहले बौद्धसिद्ध हैं, जिन्होंने चर्यागीतों और दोहाकोश की रचना की। .... कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण कहते हैं, कुछ लोग क्षत्रिय। अन्य लोगों ने इन्हें शबर (बहेलिया) सिद्ध करने का प्रयास किया है।वे नालंदा में छात्र भी थे और अध्यापक भी। नालंदा विश्वविद्यालय में प्रवेश पाना अत्यंत कठिन होता था। प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए शास्त्रज्ञ होना आवश्यक था। अतः हो सकता है, कि वे ब्राह्मण ही रहे हों। ब्राह्मण होकर ब्राह्मणवाद का खंडन अपने आप में महत्वपूर्ण है।

---

[18] सहाय, शिवपूजन, *हिंदी साहित्य और बिहार* पृ-8

[19] वही, पृ-8

वे शबर की एक कन्या को महामुद्रा के रूप में लेकर रहते थे। जाति-पाँति का यह खुला खंडन था। महामुद्रा की अवधारणा समाज में स्त्री की निम्न स्थिति के प्रति स्पष्ट विद्रोह था। धर्म के बाह्याडंबर का विरोध तो सभी सिद्धों ने किया पर सरह के स्वरों में जो आक्रामकता, उग्रता और तीखापन था, वह बाद में चलकर कबीर में ही सुनाई पड़ता है। आक्रोश की भाषा का पहला प्रयोग सरहपा में ही दिखाई देता है।"[20]

डॉ. बच्चन सिंह जी ने यद्यपि अन्य इतिहासकारों की तरह राहुल जी को आधार बनाया है, किंतु साथ ही साथ उन्होंने कम ही शब्दों में सरहपा की खासियतों को जो रेखांकित किया है। उपर्युक्त विवरण में एक बात पर ध्यान जाता है, सरहपा का शबर की कन्या को महामुद्रा बनाना। कुछ अन्य अनुश्रुतियाँ शबरपा को शबर कन्या से जोड़ती हैं। इतिहासकारों में एक और भ्रम है जो दूर नहीं हो सका है। सरहपा और शबरपा को लेकर भ्रम। कुछ विद्वानों ने शबरपा को छोटे सरहपा माना है और दोनों को अलग-अलग कालों में विद्यमान होने का तथ्य प्रस्तुत किया है। स्वयं राहुल जी ने एक पंक्ति को 'हिंदी काव्यधारा'[21] में शबरपा की रचित माना है और 'दोहाकोश'[22] में सरहपा की। इसपर भी आगे गहराई से चर्चा होगी। इस तरह हिंदी के मुख्यधारा के इतिहासकारों ने अपने-अपने ढँग से सरहपा को व्याख्यायित करने की कोशिश की, जिन पर व्यापक दृष्टि अगले अध्यायों में डाली जाएगी।

हिंदी के महान् खोजी भदंत राहुल सांकृत्यायन के अनुसार सरहपा का व्यक्तित्व

हिंदी साहित्य में कबीर को प्रतिष्ठा देने का श्रेय यदि आचार्य द्विवेदी को जाता है, तो सरहपा को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने विशिष्ट पहचान दिलाई है। नेपाल तथा तिब्बत देश के दुर्गम सफरों को पार कर के सांकृत्यायन जी ने सरहपा संबंधित कई तथ्यों को, उनसे संबंधित दुर्लभ- लुप्तप्रायः रचनाओं को खोज निकाला। उन्होंने ही सरहपा को हिंदी के परिप्रेक्ष्य से व्याख्यायित किया। इनसे पहले के दोनों

[20] सिंह, बच्चन, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, पृ-30

[21] सांकृत्यायन राहुल, हिंदी काव्यधारा,पृ-21

[22] सांकृत्यायन राहुल, दोहाकोश,पृ-24

बड़े इतिहासकारों ने सरहपा को सीधा-सीधा हिंदी प्रदेश से नहीं जोड़ा था, राहुल जी ने ही पहली बार सरहपा को हिंदी भूमि से जोड़ा, जिससे बांग्ला और ओड़िया में सरहपा को लेकर पैदा हुए विवाद में व्यापकता आई। अपनी कमियों के बावज़ूद राहुल जी का परिश्रम अतुलनीय है। उन्होंने ही सर्वप्रथम सरहपा पर व्यापकता से बात की। सरहपा की काव्य संपदा का 'दोहाकोश' के नाम से संपादन किया तथा 'हिंदी काव्यधारा' और 'पुरातत्व निबंधावली' आदि में उनको विशिष्ट स्थान दिया। राहुल जी ने सरहपा के जीवन परिचय के संबंध में 'हिंदी काव्यधारा' में जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह निम्नवत है :-

"काल- 760 ई.(गोपाल- धर्मपाल 750-70-706 ई.)। देश- मगध(नालंदा)। कुल- ब्राह्मण, भिक्षु, सिद्ध।"[23] राहुल जी ने 'दोहाकोश' में लिखा है-

"सरहपा पूर्व दिशा के राज्ञी नामक कस्बे में पैदा हुए थे। पूर्व दिशा से कौन से प्रदेश का अभिप्रेत है? आम तौर से मगध से पूर्व वाले प्रदेश- पूर्व दिशा कहे जाते थे। जिसमें बंगाल विशेषतः वारेंद्र आ सकता है। पर वारेंद्र का उल्लेख करते समय पूर्व दिशा वारेंद्र देश एक ही साथ कहा जाता था। इस लिए हम वहाँ वारेंद्र को नहीं ले सकते। इसके बाद भंगल (भागलपुर) और पुंड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) ही रह जाते हैं, जहाँ सरहपा की जन्मनगरी राज्ञी रही होगी।"[24]

उपर्युक्त तथ्यों में कुछ बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। एक तो जहाँ तक 'राज्ञी' तथा पूर्व दिशा की बात है, वह तथ्य आधारित है। किंतु इस पंक्ति- "इसके बाद भंगल (भागलपुर) और पुंड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) ही रह जाते हैं, जहाँ सरहपा की जन्म नगरी राज्ञी रही होगी" में 'होगी' पद जोड़कर उन्होंने अनुमान का आश्रय लिया है। अगर इन इलाकों में आज 'राज्ञी' नाम का कोई स्थान रहा होता, तो वे अवश्य ही उसका जिक्र करते। पुरातत्व भी इसके विपरीत ठहरता है। दोबारा हम एक

---

[23] सांकृत्यायन राहुल, *हिंदी काव्यधारा*, पृ-3

[24] सांकृत्यायन, राहुल, *दोहाकोश*, पृ-10

और बात पर ध्यान दे सकते हैं। उन्होंने लिखा है- “आम तौर से मगध से पूर्व वाले प्रदेश पूर्व दिशा कहे जाते थे।” यह उक्ति मगध में या मगध के किसी व्यक्ति (जैसे राहुल जी) के द्वारा कही जाए तो ठीक है, लेकिन नेपाल-तिब्बत जहाँ से यह विवरण प्राप्त हुआ है, वहाँ पूर्व दिशा का अर्थ क्या हो सकता है? भारतीय भौगोलिक अवस्थिति को अगर हम ध्यान में रखें, तो मगध(बिहार) समेत बंगाल, ओड़िशा तथा कुछ अंश में असम तक का भू भाग पूर्व दिशा के अंतर्गत आएगा। अतः ‘पूर्व दिशा’ जैसे विस्तृत दिशा सूचक पद को कुछ अंचल में सीमित कर देना, तथा उसके अंतर्गत राज्ञी की अवस्थिति का ठोस प्रमाण न दे पाना, राहुल जी के तथ्य को भूल साबित करते हैं। यह विचार योग्य है। डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने भी राहुल जी के राज्ञी नगर के संबंध में अनुमान पर निम्नलिखित टिप्पणी दी है-

“राहुल जी ने सरहपा के जीवन के विषय में इसी यत्किंचित् सामग्री के आधार पर कुछ प्रकाश डाला है। प्रशंसनीय होते हुए भी वह अधिकांशतः अनुमानाश्रित प्रतीत होता है। जीवनी वाले प्रसंग में राहुल जी ने ‘संदिग्ध अपूर्ण निश्चयार्थ’ क्रिया का प्रयोग किया है- जैसे उनका जन्म स्थान राज्ञी नामक बहुत बड़ा नगर नहीं रहा होगा।(वस्तुतः) जबतक सरहपा के जीवनवृत्त को स्पष्ट करनेवाली कोई प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक इस प्रकार के अनुमानों से काम लेना पड़ेगा।”[25]

जब दूसरी भाषाओं के इतिहास (ओड़िया इतिहास के विशेष संदर्भ में) में राज्ञी नगरी के बारे में पुरातात्विक तथ्य उपलब्ध हैं, तब अनुमान की क्या आवश्यकता है? यह सच है, राहुल जी के समय ये खोजें नहीं हो सकी थीं। किंतु आगे कई खोजें हुई हैं। ओड़िया के इतिहासकारों ने बलांगिर ज़िले के रानीपुर-झरिआल नामक स्थान को कई पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर राज्ञी होने का दावा किया है। राहुल जी अपनी जीवनचर्या से मज़बूर थे। उसकी चर्चा आगे होगी। दुख इस बात का है, आगे के प्रायः

[25] शाह रणजीत, *दोहाकोश*(सं राहुल सांकृत्यायन) की समीक्षा का अंश- समीक्षक : डॉ. शिवप्रसाद सिंह, *नागरी प्रचारिणा पत्रिका*, वर्ष 62, अंक 4, संवत् 2014, - 240, *सहज सिद्ध : साधना विमर्श*, पृ-18

अधिकांश इतिहासकारों ने इस संबंध में कोई विशेष छानबीन करने की जरूरत नहीं समझी है तथा राहुल जी के इस तथ्य का अंधानुकरण किया है।

हिंदी के शोधकर्ताओं के अनुसार सिद्ध सरहपा का व्यक्तित्व:-

हिंदी साहित्य जगत् में दो शोधकर्ता ऐसे पैदा हुए हैं, जिन्होंने सरहपा को विशेष और वैज्ञानिक दृष्टि से जाँचा और परखा है। एक धर्मवीर भारती जी हैं। दूसरे रणजीत शाह जी हैं। एक ने अकादमिक शोध किया है, दूसरे ने गैर अकादमिक शोध।इन दोनों का योगदान अतुलनीय है। ये दोनों इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं, कि इन्होंने सिद्ध सरहपा के ओड़िशा से संबंध को भी रेखांकित किया है।

सिद्धों तथा सरहपा के संबंध में सबसे वैज्ञानिक और उल्लेखनीय कार्य **डॉ. धर्मवीर भारती** ने 'सिद्ध साहित्य' किया है। यह रचना पी. एच. डी. की उपाधि निमित्त तैयार हुई थी। इसमें उन्होंने तटस्थता बरतने की कोशिश की है। आपने अपने शोधजन्य ग्रंथ 'सिद्ध साहित्य' में सरहपा के संबंध में निम्न विवरण प्रस्तुत किया है, जो राहुल जी से भिन्न, वैज्ञानिक तथा विचारणीय है:-

"महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इतने पर्याय नाम बताए हैं : सरोरुहवज्र, सरोजवज्र, पद्म, पद्मवज्र तथा राहुलभद्र। इनमें से सरोरुह तथा सरोजवज्र नाम का प्रयोग तो, अद्वयवज्र ने सरहपा के दोहों की टीका में किया है। संभवतः उसी के आधार पर पद्म तथा पद्मवज्र भी सरह के नाम मान लिए गए हैं। सिद्धि प्राप्ति करने के पूर्व उनका नाम राहुलभद्र था और चूँकि सिद्धि में इन्होंने एक बार शर बनाने वाली युवती की महामुद्रा बनायी थी, अतः इनका चर्या नाम शरह या सरह हो गया।"[26]

उपर्युक्त तथ्य पहले के विद्वानों के तथ्यों से समानता रखते हैं। आगे भारती जी ने 'सुम्प म्खन पो' तथा अन्य तिब्बती अनुश्रुति को आधार बनाकर सरहपा के जन्म के संबंध में निम्नलिखित विवरण दिया है:-

---

[26] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ-49

"सुम्प म्खन पो के अनुसार सरह का जन्म पूर्वी भारत में राज्ञी नामक नगरी में ब्राह्मण पिता और डाकिनी के योग से हुआ। दूसरी तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार इनका जन्म उड़ीसा में हुआ।"[27]

पूर्वी भारत की राज्ञी को लेकर विद्वानों में मत भेद हैं। आगे के अध्यायों में कई साक्ष्यों के आधार पर राज्ञी नगरी को ओड़िशा के साथ जोड़ा जाएगा, जो तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार समान होगा। क्योंकि सरहपा का 'ओड़िया' के साथ संबंध है, अतः यह कर्तव्य बनता है कि सरहपा का ओड़िया से जो संबंध है, उसे शोध के द्वारा सामने लाया जाए। यद्यपि उन तथ्य के जरिए सरहपा ओड़िशा से संबंध रखते हैं, किंतु यह नहीं कहा जा रहा है कि सरहपा सिर्फ ओड़िशा के हैं या कभी थे।

सरहपा तब के सिद्ध कवि हैं, जिस समय के पूर्वी भारत से संबंधित अधिक ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते। हो सकता है कि **नालंदा** में तब कोई साक्ष्य उस समय मौजूद हों, किंतु क्योंकि नालंदा की बुलंद पुस्तकालय को नष्ट कर दिया गया था, जिसमें उनसे संबंधित साक्ष्य भी सदा के लिए मिट गए हों-

"... उसी बीच में मुहम्मद बख़्तियार ख़िलजी के आक्रमण ने पूर्वी भारत में बौद्ध प्रभाव की रीढ़ तोड़ दी। 'तबकात-ए-नासिरी' में इस आक्रमण का बड़ा अतिरंजित वर्णन मिलता है, किंतु उसका वह अंश सर्वथा विश्वसनीय है, जिनमें बख़्तियार ख़िलजी ने मगध पर आक्रमण कर नालंदा को धूल में मिला दिया, उसके पुस्तकालयों को जला दिया और हज़ारों बौद्ध भिक्षु तिब्बत भाग गए।"[28]

यह मानने में कोई अतिवादिता नहीं लगती कि या तो सिद्धों का इतिहास, नालंदा में ही जल गया होगा या फिर तिब्बत भागे हुए भिक्षुओं के साथ चला गया होगा। नालंदा में सिद्धों के इतिहास होने की संभावना भी इस लिए बढ़ जाती है क्योंकि सरहपा से शुरू हुई नालंदा में सिद्धों के प्राचार्य बनने की परंपरा, आगे और बढ़ी थी, कई सिद्ध उसमें अध्ययन-अध्यापन किए थे। इतिहास भी अगर नहीं होगा

---

[27] वही पृ-49

[28] वही, पृ-28

तो उनका विवरण तो अवश्य ही होगा। इतने महान् विश्वविद्यालय में अध्यापनरत सरहपा का विवरण, उसके कार्यालय में अवश्य होगा। किंतु इस ऐतिहासिक दुर्घटना ने सारे प्रमाणों को नष्ट कर दिया। किंतु तय है कि अगर सिद्ध भिक्षुओं के साथ पोथियाँ तिब्बत गई होंगी तो, निश्चित है कि वहाँ आज भी वे इतिहासकारों का इंतजार कर रही होंगी। 'दोहाकोश' में राहुल जी ने इसकी शंका जताई है, कि आज भी तिब्बत में सिद्धों संबंधित पोथियाँ उपलब्ध हो सकती हैं।अतः यह संभव है कि आज भी सरहपा के संबंध में असली साक्ष्य तिब्बत में कहीं मौजूद हो। जब तक वे नहीं मिलते हमें प्राप्त साक्ष्यों का सहारा लेना होगा।

सिद्ध कवि सरहपा के विद्यमान होने के समय के बारे में डॉ. धर्मवीर भारती ने निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किया है:-

"सरहपा के जीवन वृत्त में यह उल्लेख मिलता है कि उन्होंने रत्नपाल नामक राजा को वज्रयान में दीक्षित किया था। कामरूप के इतिहास में एक रत्नपाल राजा का उल्लेख आता है, जिसने 1000 ई. से 1030 ई. तक राज्य किया। यदि यह वही रत्नपाल है तो सरह का समय 9वीं से 10 वीं के अंत और 11 वीं के प्रारंभ में अनुमान करना होगा। किंतु यह तिब्बती अनुश्रुति कितनी भ्रामक है, इसपर हम विचार कर चुके हैं।"[29] कई साक्ष्यों की छानबीन करते हुए, वे निम्नलिखित निर्णय पर पहुँचते हैं:-

"इस प्रकार मोटे तौर पर हम सरहपा, शबरपा, लुईपा का समय 9वीं शती का प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय चरण मान सकते हैं।(आगे 800-875 ई. निर्धारण किया है)"[30]

अगर हम भारती जी के इन साक्ष्यों को ग्रहण कर लें तो राहुल जी तथा विनयतोष जी के साक्ष्यों को अमान्य घोषित करना होगा। डॉ. भारती ने उचित ही लिखा है:-

---

[29] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ-23

[30] वही

"**वास्तविक परिस्थिति** यह है कि जबतक कि अन्य प्रामाणिक सामग्री प्रकाश में न आए, तब तक विभिन्न सिद्धों के कालक्रम का निर्णय कर सकना असंभव है। इस दिशा में **डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य तथा श्री राहुल सांकृत्यायन** दोनों ही का आग्रह तर्क संगत मालूम नहीं होता।"[31]

रणजीत शाह ने 'सहज सिद्ध साधना विमर्श' में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हुए सरहपा के जीवन-वृत्त का उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में किया है-

"बौद्ध तंत्रों के प्रवर्तन में सरहपा का बहुत बड़ा हाथ रहा और चाहे वे कालक्रम से सर्वप्रथम न भी हों, महत्त्व की दृष्टि से उन्हें आदि सिद्ध माना जाता रहा है। कदाचित् यह प्रश्न भी उठता रहा है कि शैव प्रभावान्वित नाथ सिद्धों के आदिनाथ कहीं सरहपा तो नहीं- क्योंकि वे पहले ब्राह्मण थे और बाद में वज्रयानी बौद्धाचार्य हो गए थे। तिब्बती ग्रंथों में विशेषकर सरह प्रणीत ग्रंथों के अनुवाद की पुष्पिकाओं में उन्हें महाब्राह्मण कहा गया है। महान् ब्राह्मण से यहाँ अभिप्राय तत्वदर्शी से है।... "[32]

रणजीत शाह ने सरहपा के जीवन वृत्त को निम्न-बिंदुओं से परिभाषित किया है-

1. ब्राह्मणवाद पर उनकी आस्था नहीं थी।बौद्ध धर्म में उनकी निष्ठा क्रमशः तीव्र हुई थी।
2. ओड़िशा के राजा की कन्या लक्ष्मींकरा की सहायता से उन्होंने वज्रयोगिनी साधना एवं गुह्योपासना का प्रचार-प्रसार किया।
3. आदि सिद्ध सरहपा के नालंदा विश्वविद्यालय छोड़ने का एक कारण महायानियों की विनय परंपरा रही है। तदनुसार स्त्री-संग एवं मद्यपान वर्जित था। भिक्षुओं को अपने शरीर पर चीवरधारण करना अनिवार्य था, भले ही उनका आचरण कैसा भी हो।
4. सरहपा को ये सब ढोंग प्रतीत हुआ और अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए नालंदा जैसे बौद्ध विश्वविद्यालय को त्याग कर उन्होंने एक शरकार- बाण-बाला अपने साथ रख ली और

---

[31] वही, पृ-20

[32] शाह रणजीत, *सहज सिद्ध साधना विमर्श*, पृ-19

स्वयं भी सरकंडों का शर बनाने लगे। इस लिए उनका नाम राहुलभद्र से सरह पड़ा होगा और आदरसूचक 'पाद' लगने से सरहपा। (दोहाकोश) इन परस्पर विरोधी जीवनी प्रसंगों ने विद्वानों को यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया होगा कि 'कम से कम दो सरह अवश्य थे। एक आठवीं सदी के अंत में- शुभाकर देव प्रथम के समकालीन(उड़ीसा के भौमकर राजा) और दूसरे दोहा एवं चर्या के रचनाकार सिद्ध सरहपाद- जो दसवीं सदी में हुए थे।(बुद्धिज़्म इन ओरिसा)'।

रणजीत शाह जी धर्मवार भारती जी के बाद हिंदी के ऐसे शोधकर्ता हैं, जिन्होंने हिंदी, बांग्ला, अंग्रेज़ी आदि कई ग्रंथों का अध्ययन किया था। तटस्थता के साथ उन्होंने सिद्धों पर शोध कर के दो किताबों का 'सहज सिद्ध साधना विमर्श' दो भागों में प्रणयन किया था। सबसे बड़ी बात वे इस शोध के मामले में धर्मवीर जी के साथ क़दम आगे बढ़ाते हैं, उन्होंने ओड़िया के विद्वानों को भी पढ़ा था और उनको साथ लेकर विश्लेषण किया था।

इस तरह हिंदी के विद्वानों ने विभिन्न अनुश्रुतियों तथा ग्रंथों का हवाला देते हुए सरहपा के जन्म स्थान, समय तथा जीवन परिचय के बारे में विवरण दिया है, किंतु कोई भी साक्ष्य संपूर्णतः प्रमाण आधारित नहीं है। क्योंकि इस मामले में प्राथमिक स्रोत का घोर अभाव है। ओड़िया के इतिहासकारों के सरहपा संबंधित विवरण हिंदी के इतिहासकारों के विवरण से अधिक ऐतिहासिक लगते हैं, क्योंकि उन्होंने अनुश्रुतियों के साथ-साथ विभिन्न अभिलेखों तथा प्रत्नतात्विक स्रोतों का सहारा लिया है। कल्पना आश्रित होकर काल निर्धारण इतिहास नहीं कहलाएगा। अतः जबतक ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक सरहपा के जन्म समय तथा स्थान को लेकर बनाए गए अटकलों को ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस मामले में एक विवाद का अंत किया जा सकता है कि सरहपा का जन्म, विभिन्न जन्मस्थानों के आधार पर कहाँ हुआ था- अगर हम यह मान लें कि सरहपा का जन्म पूर्वी भारत में कहीं हुआ था (अनुश्रुतियाँ भी यही कहती हैं), तो आधे विवाद का अंत हो सकता है। और जहाँ तक उनके जीवन

बिताने की बात रही, उन्होंने लगभग आधी भारत भूमि में अपना जीवन बिताया है, उनके तिरोधान के पश्चात् उनके विचार, उनकी काव्यकला आदि का छाप आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के लगभग हर भक्तिकाल में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान है। यह भी सर्व विदित है कि उनके देहावसान के बाद भी उनको तिब्बत तथा नेपाल ने जीवित रखा, अन्यथा उनको पाना असंभव था। अतः भारत के किसी एक प्रांत के विद्वानों का उनपर एकछत्र दावा करना वैज्ञानिक नहीं मालूम होता।

निष्कर्षतः उपर्युक्त हिंदी के विद्वानों की सभी बातों को ध्यान में रखते हुए सरहपा के व्यक्तित्व के बारे में हम निम्नलिखित नतीजों तक पहुँच सकते हैं-

1. सरहपा के अन्य नाम- राहुलभद्र, राहुलरुचि, सरोजवज्र, सरोरुहवज्र, पद्म, पद्मवज्र आदि थे।
2. सरहपा का जन्म क़रीब 8 वीं से 10 वीं शताब्दी के बीच पूर्वी-भारत में राज्ञी नगरी में हुआ था।
3. उन्होंने नालंदा में अध्यापन किया था।
4. जाति में ब्राह्मण थे, किंतु अपने बिरादरी के विपरीत जा कर, शर बनाने वाली कन्या को उन्होंने संगी बनाई थी।
5. सरहपा बंगाल के पाल वंश के राजाओं तथा ओड़िशा के भौमकरों के समकालीन थे। एक अनुश्रुति और कहती है कि वे कामरूप के रत्नपाल राजा के समकालीन भी थे।
6. डॉ. भारती के अनुसार हम किसी भी नतीजे पर पहुँच नहीं सकते, क्योंकि सरहपा से संबंधित अधिकांश तथ्य वैज्ञानिक नहीं हैं।
7. रणजीत शाह ने विभिन्न तथ्यों के सहारे सरहपा को ओड़िशा के भौमकर राजवंश के शुभाकर देव प्रथम के समकालीन माना है।

<u>हिंदी के कथा साहित्य में सिद्ध सरहपा:-</u>

"मैं यह मठ छोड़ दूँगा। मैं यह साधना छोड़ दूँगा। मैं अपनी पगड़ी उतारता हूँ धरती पर। मैं पतन की ओर निकलना चाहता हूँ। मैं तुम्हारी देह, तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी त्वचा, तुम्हारा मन, तुम्हारा समूचा अस्तित्व- सब तुमसे माँगता हूँ। मैं तथागत के प्रतिकूल, स्त्री-देह, स्त्री संसार, स्त्री के होठों की ओर प्रत्यागमन करना चाहता हूँ। क्या तुम मेरा साथ दोगी ? अचानक सरहपाद ने झाड़ू समेत उस चौदह वर्षीय बालिका के हाथ पकड़ लिए।" [33]

हिंदी के इतिहासकारों ने तथा शोधकर्ताओं ने सरहपा को जो महत्व दिए उनपर कुछ चर्चा हो चुकी है, कुछ और चर्चा आगे के अध्यायों में होंगी। हिंदी ओड़िया साहित्य-जगत् से इस बात में भी विशिष्ट है कि उसने इतिहास के साथ-साथ कहानी और उपन्यास में सरहपा को याद किया है। **दूधनाथ सिंह** ने एक कहानी **'सरहपाद का निर्गमन'** में तथा **डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय** ने एक उपन्यास **'सिद्ध सरहपा'** में सिद्ध सरहपा को स्थान दिया है। क्योंकि ये कहानी और उपन्यास हैं, अतः उनका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है, ये काल्पनिक अधिक लगते हैं। किंतु विशेष बात यह है कि हिंदी की गद्य विधा में सरहपा पर कलात्मक रचनाएँ, उनकी प्रासंगिकता को और बढ़ा देती हैं।उपर्युक्त रचनाओं को **'मानस का हंस', 'कबीरा खड़ा बाजार में', 'लुई का ताना', 'आठवां सर्ग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'यशोधरा', 'विष्णुप्रिया'** आदि ऐतिहासिक कलात्मक कृतियों के साथ रखकर देखा जा सकता है।

अब हम हिंदी के विद्वानों के अनुसार सरहपा के कृतित्व पर भी दृष्टि डालेंगे। कभी-कभी कृतित्व व्यक्तित्व का दर्पण बनकर, कृतिकार के बारे में बहुत कुछ बयां कर जाता है, जिन्हें हम प्रत्यक्ष या ऐतिहासिक साक्ष्यों के ज़रिए प्राप्त नहीं कर सकते। सरहपा के नाम से जितनी भी कृतियाँ उपलब्ध हैं, वे अधूरी और संप्रदाय प्रधान हैं। उनमें उनका लौकिक व्यक्तित्व बहुत ही कम मौजूद है। किंतु तथापि उन

---

[33] सिंह दूधनाथ, *सरहपाद का निर्गमन*, हिंदी समय[डॉट]कॉम

कृतियों से गुज़र कर हिंदी के विद्वानों ने जो ऐतिहासिक साक्ष्य प्राप्त किए हैं, उनका सम्यक् निरूपण निम्नप्रदत्त है-

<u>हिंदी के विद्वानों के अनुसार सिद्ध सरहपा का कृतित्व:</u>

"सरह आज की भाषा में अब्नर्मल प्रतिभा के धनी थे। मूड आने पर वे कुछ गुनगुनाने लगते। शायद उन्होंने स्वयं इन पदों को लेखबद्ध नहीं किया। यह काम साथ रहने वाले सरह के भक्तों ने किया। यही कारण है, जो दोहाकोश के छंदों के क्रमों और संख्याओं में इतना अंतर मिलता है। सरह जैसे पुरुष से यह आशा नहीं रखनी चाहिए, कि वह अपनी धर्म की दूकान चलाएगा, पर आगे वह चली और खूब चली, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। 800 से कुछ ऊपर के दोहों का मूल रूप में आये बिना हम उनकी कविता का पूरा मूल्यांकन नहीं कर सकते। वह मूल में अब न मिल सकेंगी, ऐसा मैं नहीं समझता, अब भी उनमें से कितने ही तिब्बत में मिलेंगे, यह मेरी धारणा है।"[34]

सरहपा की कृतियाँ तथा उनके कृतित्व को समझने के लिए, राहुल जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ बहुत महत्व रखती हैं। यह सच है कि सरहपा के नाम से जितनी भी कृतियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं, उनमें अधिकांशतः उनके द्वारा लेखनीबद्ध नहीं लगतीं, बल्कि उनके शिष्यों तथा आगे के अनुयायियों द्वारा अलग-अलग समय तथा परिस्थितियों में मनचाहे ढंग से लिखीं तथा संकलित हुई हैं। इसी कारण उनमें प्रक्षिप्त पंक्तियाँ जुड़ गई हैं। हाँ, यह अंदाजा लगा पाना अब मुश्किल है कि प्राप्त पंक्तियों में कितनी प्रक्षिप्त हैं, और कितनी पंक्तियाँ मूल हैं। राहुल जी को सरहपा की कई रचनाएँ मूल रूप में नहीं मिलीं बल्कि उनका तिब्बती भाषा में अनुवाद मिला। उनकी संख्या उन्होंने 800 बताई है। इससे भी अधिक पंक्तियाँ अब भी तिब्बत और नेपाल में कहीं सुरक्षित अवश्य हो सकती हैं। अतः सरहपा के व्यक्तित्व को समझने के लिए तथा उनकी कृतियों की प्रामाणिकता के लिए मूल पंक्तियों का मिलना अत्यावश्यक है। राहुल

---
[34] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 23

जी ने उपर्युक्त पंक्तियों में यह आशा अवश्य जगाई है कि वे कहीं अवश्य सुरक्षित होंगी। **बस राहुल जी जैसे मिशनरी स्पिरिट वाले खोजी की आवश्यकता है**। हाँ, आज परिस्थिति भी बदल गई है। आज विद्वानों को न सिर्फ भौगलिक चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा, बल्कि राजनीतिक समस्याएँ भी रोड़े बन सकती हैं। जितनी कृतियाँ और पंक्तियाँ आज उपलब्ध हैं, उनके आधार पर उनके व्यक्तित्व को हम परख सकते हैं। कवि का कृतित्व उसके व्यक्तित्व का आईना होता है। उसकी कृतियों से गुजरकर हम कवि के स्वभाव, उसके भाव तथा कला पक्ष, उसके संघर्ष आदि कई बातों को समझ-बूझ सकते हैं, साथ ही उस समय के समाज से भी रूबरू हो सकते हैं। दुख इस बात का है कि क्योंकि सरहपा की सभी मूल कृतियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हो पाई हैं, अतः इसे स्वीकार करना पड़ेगा कि सरहपा के व्यक्तित्व तथा कृतित्व अधूरे हैं। अब हम सरहपा की प्राप्त कृतियों तथा उनके कृतित्व के संबंध में चर्चा करेंगे। राहुल जी ने 'दोहाकोश' में सरहपा के नाम से **7 संस्कृत** ग्रंथों के मिलने की चर्चा की है-

बुद्धकपालतंत्रपंजिका, बुद्धकपालसाधना, बुद्धकपालमंडलविधि, त्रैलोक्यवसंकरलोकेश्वरसाधन, त्रैलोक्यवशंकरलोकेश्वरसाधन(2), त्रैलोक्यवंशकरावलोकितेश्वरसाधना, त्रैलोक्यवसंकरलोके-श्वरसाधना।

इनके अतिरिक्त राहुल जी ने **16** अनूदित अपभ्रंश की कविता- संग्रहों की सूची दी है और उन्हें सरहपा के होने की शक जताई है। किंतु अनूदित होने के कारण उन्हें मौलिक नहीं माना जा सकता है।

दोहाकोशगीति, दोहाकोश नाम चर्यागीति, क. ख. दोहा नाम, क. ख. दोहा टिप्पण, कायाकोशामृतवज्रगीति,वाक्कोशरुचिरस्वरवज्रगीति,चित्तकोशाजवज्रगीति, कायावाक्चित्ता-मनसिकार, दोहाकोशमहामुद्रोपदेश, द्वादशोपदेशगाथा, स्वाधिष्ठानक्रम, तत्वोपदेशशिखरदोहागीतिका, भावनादृष्टिचर्याफलदोहागीति, वसंतलतिकदोहाकोशगीतिका, महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति।

उपर्युक्त रचनाओं में से कितनी सरहपा की हैं, यह कह पाना मुश्किल है, जिनको लेकर स्वयं राहुल जी को भी संदेह है। कारण यह है कि सरहपा ने स्वयं रचनाएँ नहीं लिखी हैं और वे इतने प्रसिद्ध थे कि उनके बाद, उनके शिष्यों के द्वारा भी उनके नाम में रचनाएँ लिखने की संभावना अधिक बढ़ जाती है। सिद्धों के इतिहास में 'सरहपा' उपाधि से कई सिद्ध होने की संभावना कार्देयर तथा धर्मवीर भारती जी करते हैं। अतः शोधैय सरहपा की प्रामाणिक रचनाएँ कौन सी हैं, यह पता लगा पाना मुश्किल है। एक बात और है। राहुल जी खुद एक पंक्ति को लेकर भ्रम में हैं। पंक्ति निम्नांकित है-

''ऊँचा-ऊँचा पाबत तहिं वसई सबरी बाली।

मोरङ्गी पिच्छि प(हि)रहि सबरी गीवत गुजरी माला।

ऊमत सबरो पागल सबरो, मा कर गुली गुहाड़ा।

तोहरि णिअ घरणी सहज सुंदरी।''[35]

'दोहाकोश' में उन्होंने इस पंक्ति को सरहपा की बताया है-

''रहस्योक्तियाँ तो सरह की होनी ही चाहिए, क्योंकि वह मूलतः रहस्यवादी विचारक हैं। इनके श्लेष परमपद-परक होने पर भी साधारण कामुकता को भी प्रकट करते हैं...''[36]

किंतु इसी पंक्ति को 'हिंदी काव्यधारा' में उन्होंने शबरपा (छोटे सरहपा) की बताया है।[37] पंक्ति में कवि सबर (शबर) को संबोधित करते हुए कहते हैं कि रे सबर, तू पागल मत बन, सहज सुंदरी सबरी बाला तुम्हारी घरवाली है। यह कवि कौन है? क्या वे राहुलभद्र सरहपा हैं, या शबरपा हैं? गुरु शिष्य को उपदेश दे रहा है, या स्वयं कवि अपने आप को संबोधित कर रहा है?(जैसे रहीम आदि ने अपने दोहों में अपने आप को संबोधित किया है) ऐसे कई प्रश्न सरहपा नाम से मिलने वाली पंक्तियों को

---

[35] सांकृत्यायन, राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 24

[36] वही, पृ- 24

[37] सांकृत्यायन राहुल, *हिंदी काव्यधारा*, पृ- 20

प्रश्नांकित कर देते हैं। फिर भी उनकी पंक्तियों में कुछ आधारभूत बातें अवश्य परिलक्षित होती हैं, जिनसे उनके चरित्र का अंदाजा लगाया जा सकता है। यहाँ केवल संकेत मात्र किया जा रहा है। इस विषय में विशिष्ट दृष्टि सरहपा की परंपरा के बारे में चर्चा करते वक्त आगले अध्यायों में डाली जाएगी। सरहपा की कृतियों से उनके व्यक्तित्व निम्न प्रकार के हैं-

1. **'गुरु'** को सरहपा ने जिस स्थान में पहुँचाया वह द्रष्टव्य है। राहुल जी बताते हैं- आज भी नेपाल तथा तिब्बत में बौद्ध त्रिरत्नों के साथ 'गुरुं शरणं गच्छामि' श्रद्धा के साथ उच्चरित होती है।संतों ने गुरु तत्व को याथावत् ग्रहण किया है। [38] **(गुरु-वअण अमिअ-रस...**)
2. तत्कालीन पाखंड पर उन्होंने डंके की चोट की है। छुआछूत को नकारा है। उन्हें **'पंडिअ सअल सत्थ बक्खाणअ'** और **'जइ चंडाल घरें भुंजइ'** आदि पंक्तियों में देख सकते हैं।
3. **देह में ही बुद्ध यानी ज्ञान है,** यह सरहपा का मानना था।
4. सरहपा रहस्यवादी कवि हैं। उन्होंने रहस्य तथा उलटवासियों का व्यवहार किया है, जिनका प्रयोग हिंदी के संतों से लेकर ओड़िया के पंचसखाओं और भीमभोई ने किया है। हाँ, सिद्धों के मामले में इन्हें संधा भाषा कही जाती है।
5. राहुल जी आदि विद्वानों को मानें तो, सरहपा संस्कृत में भी सिद्ध हस्त थे, किंतु उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने का श्रेष्ठ माध्यम **लोकभाषा** को चुना।
6. सरहपा ने सहज अपनाने का उपदेश दिया है और बालक की भाँति (आसक्ति और छल-पाखंड से दूर) रहने का उपदेश दिया है। (28) **जइ जग पूरिअ सहजाणंदे... णाचहु गाअहु विलसहु चंगे...**।[39]

निष्कर्ष:-

---

[38] सांकृत्यायन, राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 6

[39] वही, पृ- 27

इस तरह कई विशेषताएँ उनके काव्यत्व से पता चलती हैं, जिनसे उनके व्यक्तित्व का अंदाजा लगाया जा सकता है। वे बेबाक, पाखंडों पर चोट करने वाले, सहज को प्रश्रय देने वाले तथा साधारण जीवन जीने वाले सिद्ध थे। अनुश्रुतियों से प्राप्त बातों से उनकी काव्य पंक्तियों में आई बातें बहुत अधिक मेल खाती हैं। समस्या बस तब महसूस होती है, जब सरहपा के नाम से एकाधिक व्यक्ति और रचनाओं की बात पता चलती है। किंतु फिर भी इतना तो निश्चय है कि सरहपा एक अनोखे व्यक्तित्व के धनी थे। दुनिया में महान् व्यक्तित्व की ही नकल होती है। 'सरहपा' चाहे एक व्यक्ति हो या उपाधि इतना तो माना ही जा सकता है, सरहपा सिद्धों में सबसे चर्चित व्यक्ति अवश्य ही रहे हैं। बादल ही वर्षा बनकर बरसते हैं, बादलों के बिना बारिश कहाँ? अतः सरहपा सिद्धों के आकाश में अवश्य ही बारिश बनकर उमड़े होंगे। उनकी जलधारा ने न सिर्फ सिद्धों को अपितु आगत लगभग हर भाषा के भक्ति काव्य को अभिसिंचित अवश्य किया है। विद्वान सिद्धों पर अनेक जघन्य आक्षेप लगाते हैं, जो कई मात्रा में सच भी हो तो, प्रश्न यह उठता है, क्या सरहपा पर भी वे अक्षेप लागू हो सकते हैं? हमें नहीं भूलना चाहिए कि सरहपा आदि सिद्धों में एक हैं। उन्होंने जड़ समाज में 'गति' अवश्य भरी है किंतु वे 'अति' के परिचायक कदापि नहीं हो सकते। जो कुछ भी है, सब आगे के सिद्धों की करतूत है। इस दृष्टि से सरहपा का हिंदी में मूल्यांकन होना अभी बाक़ी है। आख़िर चौरासी सिद्धों में सरहपा का अपना अस्तित्व है या नहीं है?

दूसरा अध्याय

ओड़िया-साहित्य जगत् में सिद्ध सरहपा

अध्याय का सामान्य परिचय:-

"...लामा तारानाथ के अनुसार सरहपा का जन्म ओड़िशा में हुआ था, किंतु अन्य ने ('पाग साम जन जान के लेखक ने) कहा है, सरहपा का का जन्म पूर्वदेश में हुआ था तथा उन्होंने ओड़िशा में मंत्रयान की शिक्षा ली थी। ओड़िशा पूर्वदेश में अवस्थित है। अतः सरहपा ओड़िशा के थे, इसमें कोई संदेह नहीं है। प्राचीन तारानाथ ने भी राहुलभद्र को शेष सरह कहा है। राहुलभद्र या सरह ने ओड़िशा में जन्म लिया था। लुइपा इनके शिष्य थे।" [40]

ओड़िया के संदर्भ में अध्ययन के दौरान सिद्ध सरहपा से संबंधित उपर्युक्त पंक्ति को सामने रखा जा सकता है। यह न सिर्फ सिद्ध सरहपा के ओड़िशा में जन्म होने की बात को कहती है, बल्कि ओड़िया के संदर्भ में उनकी व्याख्या भी करती है। इस अध्याय में ओड़िया के विभिन्न विद्वानों के साक्ष्यों के सहारे सिद्ध सरहपा के ओड़िशा से संबंध की छानबीन की जाएगी।

ओड़िया के आदि कवि कौन हैं?

हिंदी की ही तरह ओड़िया में भी यह दावा किया जाता है कि सरहपा ओड़िया भाषा के कवि हैं। अतः आविर्भाव की दृष्टि में उनको ओड़िया के आदिकवि का गौरव प्राप्त होना चाहिए था। आश्चर्य की बात यह है कि इस दावे के बावजूद ओड़िया भाषा के आदिकवि होने का दर्जा सरहपा को नहीं, अपितु सारलादास को प्राप्त है, जबकि सरहपा सारलादास से काफी पहले से ही अवतरित हो चुके थे। ओड़िया के विद्वान् तथा इतिहासकार ओड़िया भाषा की पुरातनता को दर्शाने के लिए उसे सिद्धों तथा सरहपा से तो जोड़ देते हैं, किंतु जब आदिकवि की मान्यता की बात आती है तो अधिकांशतः सारलादास के पास शरण लेते हैं! ऐसा क्यों हुआ है? दरअसल सारलादास अपने जीवनकाल से आज तक ओड़िया

---

[40] कर करुणाकर, *आश्चर्य चर्याचय*, पृ-22

साहित्याकाश में बद्धमूल हो गए हैं, कि वे आदि कवि हैं। वे कभी अस्त हुए ही नहीं हैं। ये सिलसिला ओड़िया साहित्य के इतिहास लेखन में भी ज़ारी रहता है। ओड़िया साहित्य के इतिहास लिखने की परंपरा जबसे शुरू होती है, तब तक लोक तथा साहित्य में वे 'आदिकवि सारलादास' के नाम से लोकप्रिय हो चुके थे और सरहपा आदि सिद्ध पोथियों के साथ नेपाल-तिब्बत की तरफ प्रस्थान कर चुके थे। अतः यह धारणा रूढ़ हो गई है। सरहपा का आविष्कार भारत के बाहर हुआ, सरहपा सैकड़ों सालों पहले से ओड़िया साहित्य के आकाश से अस्त हो चुके थे। किंतु सारलादास ही क्यों आदिकवि हैं, जबकि उनसे पहले भी काफी रचनाकार हैं, जिन्होंने कई उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं और ओड़िशा भूगोल में विद्यमान थे ? उनमें **'केशव कोइलि', 'कळसा चौतिसा', 'रुद्र सुधानिधि'** आदि रचनाएँ प्रासंगिक हैं। इसके अलावा अगर हम इनके साथ ओड़िया के सिद्धों तथा नाथों की रचनाओं को शामिल करें, तो यह सूची लंबी और समृद्ध होगी क्योंकि ये 8वीं से 14वीं शती तक विद्यमान थे और उनकी रचनाएँ इसी कालावधि के भीतर कही-रची गई हैं। अतः सिद्धों तथा सिद्धों में भी सरहपा को आदिकवि मानना चाहिए, यद्यपि वे हर भाषा के लिए संदिग्ध हैं, जो भाषाएँ, ये दावा करती हैं। क्योंकि जिन अम्नायों के आधार पर सरहपा आदि सिद्ध माने गए हैं, उनके विपरीत अम्नाय लूइपा को आदि सिद्ध मानते हैं और सरहपा का ऐतिहासिक व्यक्तित्व बोझिल है।

दरअसल जिन अश्लीलता को देखकर सिद्धों को कवि कहने से नकार दिया जाता है, वे अश्लीलताएँ सारलादास में भी विद्यमान थीं। एक उदाहरण को हम देख सकते हैं-

''जुकते जुबती पुणि स्वभाबरे नारी/ शरीर बिराजे तांक स्वर्णपत्र परि/ नाना बिध अलंकार होइ आभरण/ ब्रह्मांक निकटे आसि मिळिले बहन/ जुकते शिशिरमास कुहेळिका बृष्टि/ स्तन, जानु, जउबन सबु दिसे फुटि... क्षणे-क्षणे अबलेकि ताहांकर जानु/ कामरे असाष्टम जे पितामह तनु/ एड़ेक महातमा

जे पुणि सुज्ञानी/ समस्या न करि ठारि देले कर घेनि/ देखिण आनंद हेले से प्रमदागण/ अमोहरेत धातांक हेला जे स्खलन...''[41]

अर्थात् एक तो युवती है, और फिर ऊपर से, स्वभाव से वह नारी है। उसका शरीर स्वर्णपात्र के सदृश्य विराजमान है। नाना प्रकार के अलंकार से वह आभूषित है और ब्रह्मा के निकट में आकर वह खड़ी हो गई। किस्मत से वह शिरीश का महीना था और चारों तरफ कोहरे घने थे। उस परिस्थिति में उस युवती के स्तन, जानु तथा योवन सब कुछ प्रस्फुटित हो रहे थे। क्षण-क्षण में पितामह ब्रह्मा उस युवती की जानु का अवलोकन कर रहे थे। पितामह में कामोत्तेजना बढ़ रही थी। इतने बड़े महात्मा हैं और ज्ञानी भी थे, लेकिन उनका अपने आप पर वश नहीं रहा। धाता का त्वरित स्खलन (वीर्य) हो जाता है।

उपर्युक्त पंक्ति सारलादास की है। सारलादास विरचित इस ग्रंथ की, ओड़िशा में पूजा होती है, जबकि उसमें अश्लील तत्व पाए जाते हैं। इस रचना में कई जगह अश्लीलता भक्ति के पर्दे तले बसी हुई है। हिंदी और उड़िया तथा उस समय की अधिकांश भारतीय भाषाओं के साहित्य में नग्नता, अश्लीलता आदि देखी जा सकती हैं। अधिकांश मंदिर इसी समय के आसपास बने हैं, जिनमें नग्न मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं।

कमियाँ हर महान् से महान् ग्रंथ में विद्यमान हैं। ठीक है सारलादास ओड़िया साहित्य दुनिया में बद्धमूल हो गए थे किंतु आज तो स्थिति पूरी तरह से उजागर है। कई खोजें हो चुकी हैं। सरहपा समेत सिद्धों की भारी मात्रा में रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। सरहपा का ओड़िशा से संबंध पर भी काफ़ी प्रमाण एकत्रित हो गए हैं। पुरातात्विक साक्ष्यों, 'बौद्धगान ओ दोहा' में संकलित 4 पंक्तियों में ओड़िया के तत्व आदि कई साक्ष्य उनको अतीत-ओड़िया से जोड़ते हैं। तो फिर सारलादास सिद्धों के मुकाबले महान् कैसे हो गए? हिंदी में भी यही स्थिति है। लगभग अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि चंद कृत 'पृथ्वीराज रासो' संदिग्ध है, तथापि उसे पहला महाकाव्य मान लेते हैं और चंद को प्रथम महाकवि!

[41] सभापर्व, महाभारत, सारळा दास, महांति सुरेंद्र, *ओड़िया साहित्य र आदिपर्व*,पृ-4

(ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराज रासो प्रथम महाकाव्य...[42]) अतः हिंदी तथा ओड़िया साहित्य के विद्वानों को इस दिशा में पुनः सोचने-विचारने की ज़रूरत है।

इस अध्याय में ओड़िया के विद्वानों ने सरहपा को किस दृष्टि से देखा है, उसपर चर्चा की जाएगी।

ओड़िया के विद्वानों के अनुसार सिद्ध सरहपा के व्यक्तित्व-कृतित्त्व:-

हिंदी की ही तरह ओड़िया में भी सरहपा को लेकर काफी अंतर्विरोध हैं। लेकिन ऐसा क्यों है? इसके कुछ कारण हैं। एक तो ओड़िया के अधिकांशतः (सिद्धों संबंधित) ऐतिहासिक खोजों में भारी विरोधाभास है। ओड़िया के विद्वानों ने सिद्धों से संबंधित साहित्येतिहास लेखन के लिए स्रोतों की सहायता बांग्ला तथा विदेशी भाषा के विद्वानों से ली है ओर उनका खंडन-मंडन किया है। यह सिर्फ ओड़िया भाषा साहित्य के इतिहास लेखन में नहीं, हिंदी तथा अन्य कई भाषाओं में भी, सिद्धों के मामले में यही स्थिति है। मौलिकता का अभाव पिष्टपेषण को जन्म देता है, जिससे हिंदी के विद्वान भी बच नहीं पाए हैं (नगेंद्र संपादित इतिहास तथा शिवपूजन सहाय इसके उदाहरण हैं)। यह साहित्य के इतिहास लेखन को दूषित करता है। इतिहास लेखन दूषित होने के कई कारण हैंः व्यक्ति, जाति या अँचल केंद्रित इतिहास लेखन, ऐतिहासिक तथ्यों की जाँच किए बिना उनको ग्रहण कर लेना, ऐतिहासिक तथ्यों के साथ छेड़खानी करना, इतिहास लेखन पद्धति से अज्ञानता के अधीन रहकर इतिहास लेखन करना, पूर्वाग्रह से इतिहास लिखना आदि।

ओड़िया के विद्वान डॉ. सुरेंद्र महांति की माने तो: "औड़िया में (अन्यान्य साहित्य में भी) साहित्य का इतिहास नाम से जो रचनाएँ रची जा रही हैं, उनमें से अधिकांश को साहित्य का इतिहास नहीं कहा जा सकता, अपितु साहित्यिक की इतिवृत्ति कही जा सकती है।"[43]

---

[42] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ-46

[43] महांति सुरेंद्र, *ओड़िया साहित्य र आदिपर्व*, पृ- 3

सिद्धों से संबंधित ओड़िया साहित्य, प्रत्यक्ष से बांग्ला इतिहासकारों पर तथा परोक्ष से कुछ अंग्रेज़ी खोजों तथा तारानाथ आदि के विवरणों पर आश्रित है। बांग्ला तथा विदेश के इतिहासकारों की खोजों का सहारा लेकर तथा उनके तथ्यों का कुछ वैज्ञानिक कुछ अवैज्ञानिक रूप से खंडन-मंडन करके ओड़िया के इतिहासकारों-विद्वानों ने उनकी ओड़िया संदर्भ में व्याख्या की है (राहुल सांकृत्यायन तथा कुछ एक इतिहासकारों को छोड़ दें तो, हिंदी में भी लगभग यही स्थिति है)। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि सरहपा का ओड़िया से कोई संबंध नहीं है। सिद्ध-सरहपा का आज की ओड़िया से उतना ही संबंध है, जितना आज की बांग्ला और हिंदी से है। किंतु हमें यह कतई नहीं भूलना चाहिए कि इन सब के बावजूद सरहपा का अपना महत्व है, उनकी अपनी पहचान है। सबसे बड़ी बात सरहपा आज के कवि नहीं, तब के हैं, जब ये भाषाएँ अस्तित्व में नहीं आई थीं, न ही इनकी जातीयता के प्रश्न पैदा हुए थे। तब ये राज्य भी अपने वजूद नहीं रखते थे। अतः सरहपा को आंचलिकता की रस्सी से बांधी नहीं जा सकती, न ही उनको लेकर जो रस्साकस्सी चल रही है, वह जायज है। वे हम सबकी धरोहर हैं, भारतीयता के प्रतिनिधि हैं, यह मानने मैं आज भी कई विद्वान तथा पाठक कतराते हैं!

क्योंकि सिद्ध कवियों की खोज, उनकी रचनाओं का संकलन तथा उनकी ऐतिहासिक व्याख्या बांग्ला में अधिक हुई और उनकी अपनी कमियों के बावजूद आगत सिद्धों से सम्बंधित ऐतिहासिक कृतियों के मार्गदर्शक बांग्ला ही रही, अतः ओड़िया बांग्ला के सामने दुर्बल पड़ गई। यह उपनिवेश काल की बात है। बांगाल उपनिवेश का गढ़ था, तब बिहार तथा ओड़िशा बंगाल के अधीन थे। इतिहास साक्षी है कि शक्ति हमेशा केंद्र के साथ रही है। सिद्धों पर इतिहास लेखन के समय शक्ति बंगाल के निकट थी। बंगाल में उपनिवेश की स्थापना तक, ओड़िशा ने तथा प्रकारांतर में उसकी भाषा ने अपनी पहचान खो दी थी। इस संबंध में प्रो. मैनेजर पाण्डेय की निम्नलिखित उक्ति द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने फकीर मोहन सेनापति के बहाने बांग्ला भाषा का उड़िया पर दबदबे की बात कही हैः **"उन्नीसवीं सदी के बंगाली भद्र लोक की ओर से आवाज उठी थी कि उड़िया कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, वह बांग्ला की**

एक बोली है। इसलिए स्कूलों में उसकी पढ़ाई बंद कर दी जाए। इसका उद्देश्य यह था कि धीरे-धीरे उड़िया का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जाए। फकीर मोहन सेनापति ने इस षड्यंत्र का जमकर विरेध किया। लेकिन उन्होंने बांग्ला से उड़िया के स्वतंत्र अस्तित्व को साबित करने के लिए जो प्रमाण रखा, वह अकाट्य साबित हुआ।" [44]

जल्द ही ओड़िया में भी कई खोजें हुईं, यद्यपि इन खोजों के लिए ओड़िया के विद्वान तिब्बत या नेपाल तक नहीं गए, किंतु अंधरुनी साक्ष्यों- जिनमें प्रत्नतात्विक, अभिलेख, आगे के ओड़िया साहित्य में सरहपा समेत सिद्धों की परंपरा का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष मौजूदगी आदि की छानबीन करते हुए सरहपा की ओड़िया के संदर्भ में व्याख्या की। उन विद्वानों में करुणाकर कर, मायाधर मानसिंह, नवीन कुमार साहु, बंशीधर महांति आदि ओड़िया के यशस्वी इतिहासकार अपना-अपना विशेष महत्व रखते हैं। इसमें कई बांग्ला तथा विदेशी विद्वानों ने उनका साथ दिया। किंतु दुखद यह है कि आज तक सरहपा की ओड़िया के संदर्भ में जो व्याख्या हुई है, वह मुख्यधारा के भारतीय-साहित्येतिहास तक पहुँच नहीं पाई है।

प्रथम अध्याय में ही इस बात की चर्चा हो चुकी है कि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा संकलित 'बौद्धगान ओ दोहा' जब सन् 1916 ई. में आई, तब से कभी न ख़त्म होने वाला एक विवाद शुरू हो गया। ओड़िया में सिद्ध तथा सरहपा संबंधित चर्चा कुछ विलंब से शुरू हुई (लगभग 1930 ई. के आसपास से)। यद्यपि ओड़िया साहित्य में इतिहास लेखन की आवश्यकता पर बात हिंदी से भी काफी पहले ओड़िया में शुरू हो चुकी थी। ओड़िया साहित्य के आदि इतिहासकार श्री कृष्णप्रसाद चौधुरी ने 1896, जून 2 तारीख़ को 'उत्कळ दीपिका' में प्रकाशित एक लेख में जो बात लिखी थी, उसकी महत्ता बहुत अधिक है, जो साहित्येतिहास लेखन के संबंध में, आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। साहित्य के इतिहास संबंधित ऐसे विचार रखने वाला विद्वान, तब शायद हिंदी में भी नहीं हुआ होगा।

---

[44] पाण्डेय मैनेजर, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ-288

उन्होंने लिखा थाः **"साहित्य का इतिहास हमारे देश में अबतक नहीं है। पृथ्वी के अन्य सभ्य देशों में वह है और उसके कारण वे देश सभ्यता के उच्चत्तर सोपान में पहुँच चुके हैं। किस समय कौन से ग्रंथ लिखे गए थे, उन ग्रंथों के रचयिता कौन हैं, किस कारण या किस प्रयोजन से ग्रंथकारों ने उन ग्रंथों की रचनाएँ कीं, उन ग्रंथों के द्वारा देश तथा समाज में क्या मंगल तथा अमंगल साधित हुआ है, इन सबका आजतक हमारे यहाँ धारावाहिक वर्णन नहीं मिलता।"** [45]

यानी किसी भी देश के साहित्य का इतिहास उसकी सभ्यता को सर्वोच्च पहचान दिलाने में मदद कर सकता है। यह वह दस्तावेजीकरण है, जिससे सिर्फ ग्रंथों का विवरण नहीं मिलता अपितु उन ग्रंथों की समाज के प्रति प्रासंगिकता का पता लगया जा सकता है। साहित्य के इतिहास संबंधित ऐसे विचार तब तथा आज भी भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। सिद्ध साहित्य तथा सरहपा को इससे जोड़कर देखा जा सकता है। जैसे हर एक चीज़ में मंगल-अमंगल दोनों चीज़ें रहतीं हैं, वैसे ही साहित्य-अनुशासन में भी यह देखा जा सकता है। केवल कमियों को देखकर उनको साहित्य के इतिहास से अलग कर देना सही बात नहीं लगती। अतः सिद्धों पर इस दृष्टि से विचार होना अभी बाक़ी है।

ओड़िया में सिद्धों तथा सिद्धों में भी सरहपा की चर्चा चर्यागीतों तथा 'बौद्धगान ओ दोहा' के परिप्रेक्ष्य से हुई है। क्योंकि सरहपा के चार गीत 'बौद्धगान ओ दोहा' में संकलित हैं तथा अलग से 'सरोरुहवज्र का दोहाकोश' नाम से एक अध्याय संकलित है व उन गीतों में ओड़िया भाषा का पूर्वरूप विद्यमान है, अतः 'बौद्धगान ओ दोहा' के अन्य चर्यागीतिकारों की ही तरह सरहपा की रचनाओं को प्राथमिक ओड़िया सिद्ध करने की कोशिश हुई है, किंतु यह मुखर नहीं हो पाया है। व्यतिक्रम को जिन इतिहासकारों ने रेखांकित किया है, उन इतिहासकारों में सबसे महत्वपूर्ण हैं- डॉ. खगेश्वर महापात्र। जिन्होंने 'चर्या गीतिका' नामक अपनी पुस्तक में एक महत्वपूर्ण टिप्पणी की हैः

[45] सामंतराय नटबर, आधुनिक ओड़िया साहित्य का इतिहासः प्रथम उद्यम की प्रकृति और परिणति, महांति सुरेंद्र, *ओड़िया साहित्य र आदिपर्व*, पृ- 2

"चर्यागीतिकारगण मिथिला से लेकर ओड़िशा प्रदेश तक के भूखंड में रहते थे और ऐसा प्रतीत होता है, उन्होंने अपनी रचनाओं में मागधी अपभ्रंश का इस्तेमाल किया है। उन कवियों ने ऐसे अनेक आंचलिक शब्दों का प्रयोग किया है, जो इस समग्र अँचल में सर्वत्र बोध्य नहीं हैं।...चर्यागीतियों की भाषा में बांग्ला, ओड़िया, मैथिली, भोजपुरी, मगही, असमिया आदि भाषाओं का तथा कुछ स्थलों में पूर्वी हिंदी के प्राचीन रूप मिलना स्वाभाविक है। इसलिए इनकी भाषा को प्राचीन बांग्ला या प्राचीन ओड़िया कहना कितना वैधानिक है, उसपर विचार करना ज़रूरी है। यह भाषा मोटा मोटी रूप से प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश है। मुनिदत्त ने भी इसको प्राकृत कहा है।"[46]

डॉ. खगेश्वर ने जो तटस्थता वर्ती है तथा (सरहपा समेत अन्य सिद्ध कवियों को किसी भाषा विशेष की न मानकर) इतिहास में उन्हें स्वतंत्र पहचान देने की जो कोशिश की है, यह दुर्लभ तथा स्वागत योग्य पहल है। ऐसे विचार हिंदी तथा बांग्ला में भी देखे नहीं जाते।

ओड़िया में अब तक सरहपा से संबंधित कोई स्वतंत्र रचना नहीं हुई है, उन्हें अन्य सिद्ध-कवियों के साथ रखकर उनकी व्याख्या हुई है। ओड़िया के लगभग हर बड़े साहित्येतिहासकार ने सरहपा पर न्यूनाधिक बात की है। ओड़िया के विद्वानों के द्वारा सरहपा के व्यक्तित्व और कृतित्व पर जो रोशनी डाली गई है, वह निम्नवत है:

सुरेंद्र महांति ने अपनी कृति 'ओड़िया साहित्य र आदि पर्व' (1963 ई.) में, मैथिली साहित्य के इतिहासकार डॉ. जयकांत मिश्र से संदर्भ लेकर (जयकांत मिश्र ने राहुल सांकृत्यायन के एक निबंध से संदर्भ लिया था) सरहपा के बारे में लिखा है: **"ये राहुळभद्र शरह, आचार्य महासेन शरह तथा सरोरुह वज्र आदि नाम से जाने जाते थे। प्राच्य देश के राज्ञी नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। जिस नारी के साथ रहकर उन्होंने साधना की थी, वह शर बनाती थी।**

---

[46] महापात्र खगेश्वर, *चर्यागीत*, पृ- v

अर्थात् वह एक शबर जाति की कन्या थी। नालंदा विश्वविद्यालय में उन्होंने कुछ समय बिताया था।"[47]

यह तथ्य पूर्णतः अन्याश्रित है। इस पंक्ति में एक ध्यान देने वाली बात यह है। इसमें लिखा है, सरहपा ने शबर जाति की कन्या के साथ रहकर साधना की थी। ओड़िशा के विद्वानों ने ओड़िशा में एक और सरह की बात की है, जिसका नाम शबरिपा है (तारानाथ के विवरण से भी यह पता चलता है)। पहले ही चर्चा हो चुकी है, उनका संबंध भी एक शबरी के साथ जोड़ा जाता है, जिसपर एक पंक्ति भी हैः- (ऊँचा ऊँचा पाबत...) इस पंक्ति को राहुल 'दोहाकोश' में सरहपा की मानते हैं तथा 'हिंदी काव्यधारा' में शबरपा की(इसकी चर्चा पहले हो चुकी है) तथा ओड़िया के विद्वान शबरीपा की मानते हैं। बहरहाल इतना कहा जा सकता है कि 'शबर' शब्द भ्रम पैदा करता है। वह पंक्ति किसकी है, जिसमें शबर-शबरी को संबोधित किया गया है? यह तब और संदिग्ध हो जाता है, जब ओड़िया के यशस्वी इतिहासकार बंशीधर महांति शबरिपा का विवरण कुछ यों देते हैं-

"पी. कार्डिर साहेब की तेंगुर ग्रंथसूची में (Bstan-hgyur) सरहपा राहुलभद्र के नाम से नामित हैं और यह लिखा गया है कि वे उड्डीयान या ओड़िशा के निवासी थे। पाग-साम-जान-जान (pp. XXVII, 84-5) के अनुसार वे ब्राह्मण थे और उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था। उनका जन्म भारत के पूर्व-देश के 'राजनी' नाम के प्रदेश में हुआ था। उन्होंने बहुत सारे ब्राह्मण्य और बौद्ध धर्म ग्रंथों का अध्ययन किया था और प्राच्य देश के चंद्रपाल के राज्यकाल में जीवित थे। वे उस समय के ओड़िशा के राजा शुभशुकल्प के द्वारा मंत्रयान में दीक्षित हुए थे। उन्होंने खुद बाद के समय में महाराष्ट्र के राजा रत्नपाल और उनके मंत्री को उस धर्म में दीक्षित किया था।"[48]

---

[47] महांति सुरेंद्र, *ओड़िया साहित्य र आदिपर्व*,पृ-30

[48] महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ-32

गौर करने की बात है कि बंशीधर ने उपर्युक्त विवरण शबरिपा के जीवन परिचय के रूप में दिया है यानी कि उनके तथ्यों के अनुसार सरहपा और शबरिपा एक है, जिनका जन्म (शबरिपा का?) राजनी में हुआ था और वे राजा चंद्रपाल के समय विद्यमान थे। जहाँ रत्नपाल को महाराष्ट्र का बताया गया है, वहीं धर्मवीर भारती ने उसे कामरूप-असाम का बताया है-

"सरहपा के जीवन-वृत्त में यह उल्लेख आता है कि उन्होंने रत्नपाल नामक राजा को वज्रयान में दीक्षित किया था। कामरूप के इतिहास में एक रत्नपाल का उल्लेख आता है, जिसने 1000 ई. से 1030 ई. तक राज किया था। यदि यह वही रत्नपाल है, तो सरह का समय फिर 9 वीं से 10 वीं के अंत और 11 वीं के प्रारंभ में अनुमानित करना होगा।"[49] भारती जी इस बात को और साफ कर देते हैं-

'उपर्युक्त तथ्य एक बात की ओर इशारा कर रहा है। वह यह है कि ये सरहपा शायद द्वितीय सरहपा हो सकते हैं, यानी शबरिपा। जिनको अभिनव सरह या कहा जाता था।" [50] हमारा यह शक और गहरा तब होता है जब हम उनके आगे के पदों को देखते हैं। उन्होंने आगे लिखा है-

"तारानाथ के मतानुसार दो सरह वर्तमान थे। बड़े सरह और छोटे सरह(शबरिपा)। दोनों का जन्म ओड़िशा में हुआ था। पहले सरह का नाम राहुलभद्र था और दूसरे सरहपा का नाम शबरी था। उस कारण सरह-शबरी यथाक्रम में गुरु और शिष्य हैं।"[51]

सिद्ध साहित्य के इतिहास में 'सरहपा' एक उपाधि जैसा बन गया है। जिस कारण भ्रम और गहरा हो जाता है। उन्होंने आगे लिखा है-

---

[49] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ-23
[50] वही, पृ-25
[51] वही, पृ- 25

"अनेक विद्वानों के मतानुसार प्रथम सरह का जन्म ओड़िशा के भौमकर राजवंश के प्रथम शुभाकरदेव के समय यानी आठवीं शताब्दी में हुआ था और दूसरे का आविर्भाव समय दसवीं शताब्दी था।"[52] (रत्नपाल राजा के समय आविर्भाव होने की अधिक संभावना है।)

एक ही इतिहासकार के तथ्यों में इतने अंतर्विरोध हैं कि यह पता लगा पाना मुश्किल है कि सरहपा का जीवन परिचय क्या था। ऐसे कई रहस्य हैं, जिनपर से पर्दा उठना अभी बाकी है, किंतु दुःख इस बात का है कि यह लगभग नामुमकिन है क्योंकि सरहपा से संबंधित प्राथमिक साक्ष्य अब लगभग ग़ायब हैं, जिनसे हम उनके संबंध में अधिक जान सकें। अलग-अलग अनुश्रुतियों के कारण यह अधिक भ्रामक हो गया है। **क्योंकि तारानाथ भोट देश के थे, तो उन्हें भारतीय भूगोल तथा उनके नामों की जानकारी कम थी। ऐसा प्रतीत होता है, उन्होंने परंपरा से प्राप्त अनुश्रुतियों के सहारे विवरण प्रस्तुत किया है। एक तो परंपरा से दूसरी अनुश्रुतियाँ। अतः तथ्यों में घालमेल होना स्वाभाविक है।**

सुरेंद्र महांति जी ओड़िया के यशस्वी इतिहासकारों में एक हैं, लेकिन सरहपा संबंधित उनके मत विवाद को ही प्रश्रय देते हैं। उन्होंने निम्न पंक्तियों में सिद्धों के साथ सरहपा को रखकर बात की है।

"सहजिया चर्यापद रचयिताओं में से अनेक ओड़िशा भूमि के हैं, अतः उनकी पदावली की भाषा को, प्रत्न-ओड़िया भाषा कही जा सकती है। किंतु ये सब संदेहास्पद भी है। उस काल में ओड़िशा और बंगाल की भौगोलिक सीमा कैसी थी, फिर उस काल में ओड़िया और बांग्ला भाषा आदि ने अपने-अपने रूप प्राप्त कर चुके थे या नहीं, इसमें संदेह है। तथापि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने सिद्धाचार्यों के नाम और ग्राम के विचार से, जैसे इनको प्राचीन बांग्ला के घोषणा की है, वैसे ही उन्हें प्राचीन ओड़िया के निवासी कहा और दावा किया जा सकता है।"[53]

---

[52] वही, पृ- 33

[53] महांति सुरेंद्र,*ओड़िया साहित्य र आदिपर्व*, पृ- 34

वैचारिक प्रतिस्पर्धा ने यह हश्र किया है कि सिद्ध तथा उनमें सरहपा केवल विवाद के वस्तु बनकर रह गए हैं। सुरेंद्र महांति की उपर्युक्त टिप्पणी यही कहती है कि क्योंकि शास्त्री जी ने सिद्धों को बंगाल का घोषित कर दिया तो, वे भी उन्हें ओड़िशा का घोषित करेंगे। यद्यपि सिद्धों की भाषा में ओड़िया, बांग्ला, हिंदी आदि के पूर्व रूप विद्यमान हैं किंतु ये भाषिक परिकल्पना यह सिद्ध नहीं करती कि ये कवि इन भाषाओं में से किसी एक की व्यक्तिगत संपत्ति हैं। यह विवाद निराधार है। आश्चर्य की बात यह है कि इससे इन भाषाओं के इतिहास के पाठक भी बचे नहीं हैं!

डॉ खगेश्वर, जिनकी चर्चा हमने पहले ही की है, सिद्धों तथा सरहपा के विवाद पर टिप्पणी करते हुए कहते हैंः "...फिर इस क्षेत्र में यथार्थ सत्य प्रकाशित हो गया है, जिसके अंतर्गत आलोचकों के संकीर्ण प्रादेशिक मनोभाव शामिल है। जिस कारण जितने भी ऐतिहासिक उपादान मिले हैं, उनपर मन चाहे ढंग से फेर-बदल करने और उनकी व्यक्तिनिष्ठ व्याख्या करने के कारण उनमें सामंजस्य की कमी रहती है। हज़ार वर्ष पूर्व आधुनिक भौगोलिक सीमारेखा जैसी कोई चीज़ नहीं थी और एक वृहत्तर भाव भूमि के साथ बांग्ला, बिहार, असमिया और ओड़िया की जनता जीवन-यापन करती थीं, इस बात को आज के स्वार्थी गवेषक मान नहीं पा रहे हैं।"[54]

यद्यपि डॉ. साहेब ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया है, किंतु उनका विचार बिल्कुल ही तटस्थ, वैध्य तथा सार्वभौमिक है। इतिहास में 'स्वांतः सुखाय' का भाव इतिहास को व्यक्तिकेंद्रित कर दूषित कर देता है। उन्होंने स्वांतः सुखाय तथा आंचलिकता की राजनीति परित्याग करने का आह्वान दिया है, जो एक इतिहासकार का सर्वोत्तम कर्तव्य होना चाहिए।

डॉ. खगेश्वर ने उसी कृति में सरहपा का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह निम्नवत् हैः "अनेक यह मानते हैं कि सरहपा आदि सिद्ध हैं। भिन्न-भिन्न सूत्रों से उनके जीवन के संबंध में नाना प्रकार के तथ्य उपलब्ध होते हैं। तेंगूर से पता चलता है कि वे उड्डीयान के निवासी थे, तारानाथ के अनुसार

[54] महापात्र खगेश्वर, *चर्या गीतिका,* पृ-10

उनका जन्म उड़िविसा में हुआ था, किंतु 'पाग सम जोन जोन' के अनुसार प्राच्य देश के राज्ञी नगर के में उनका जन्म हुआ था।उस समय उनका नाम राहुलभद्र या राहुलरुची तथा सरोजवज्र या पद्मवज्र था।"[55]

डॉ. खगेश्वर ने भी अन्य ओड़िया विद्वानों की तरह तेंगूर आदि ग्रंथों का हवाला देकर उनके जन्मस्थान के बारे में सूचना दी है। उनके जन्मकाल के बारे में बताते हुए उन्होंने डॉ. नवीन कुमार साहु द्वारा रचित 'Buddhism in Odisha' के तथ्य को उद्धृत किया है: "ओड़िशा म्युज़ियम में सुरक्षित पद्मपाणि अवलोकितेश्वर की मूर्ति में उत्क्रीर्णित अभिलेख के अनुसार उनका (सरहपा) समय शुभाकर देव के राज्यकाल (790-839 ई.) में था।"[56] रणजीत शाह के मतों को उल्लेख करते वक्त इस बात का ज़िक्र हो चुका है।

ऊपर प्रदत्त सरहपा का समय हिंदी तथा बांग्ला के इतिहासकारों के द्वारा दिए गए समय के निकट ठहरता है। यद्यपि यह सरहपा के विद्यमान होने को सिद्ध करता है, तथापि तत्संबंधित भ्रम बरकरार है। इसपर भी अगले अध्याय में विचार किया जाएगा। जो भी हो जैसे हिंदी तथा बांग्ला के विद्वान सरहपा को धर्मपाल, चंद्रपाल तथा रत्नपाल के साथ रखकर उनकी निवास-स्थली बंगाल से जोड़ते हैं, वैसे ही उपर्युक्त प्रत्नतात्विक साक्ष्य सरहपा को राजा शुभाकर देव से संबंधित करके उन्हें ओड़िशा के साथ जोड़ता है। इससे एक और बात पता चलती है और वह है समय की बात, कि सरहपा 790 से 839 ई. के बीच विद्यमान होंगे। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि इससे यह कतई सिद्ध नहीं होता कि सरहपा सिर्फ और केवल आधुनिक ओड़िशा की धरोहर थे, वैसे ही वे आधुनिक बंगाल या आधुनिक बिहार के भी नहीं हो सकते। अगले अध्याय में प्रत्नतात्विक साक्ष्यों पर विचार करते हुए इस पर अधिक रोशनी डाली जाएगी।

---

[55] वही, पृ-125

[56] महापात्र खगेश्वर, *चर्या गीतिका,* पृ-125

प्रो. बंशीधर महांति ने 'ओड़िया साहित्य र इतिहास' में सरहपा का जीवन परिचय निम्नांकित रूप से दिया हैः

"प्राचीनतम दोहाकार सरोरुहवज्र या पद्मवज्र का आविर्भाव समय आठवीं शताब्दी है। सरोरुहवज्र सरहपा नाम से भी जाने जाते हैं। ये प्रसिद्ध तांत्रिक बौद्धग्रंथ 'हे वज्रतंत्र' के भी स्रष्टा हैं। विभिन्न ऐतिहासिक विवरणों से यह पता चलता है कि वे उड्डीयान या ओड़िशा निवासी सिद्ध साधक थे। सरहपाद ने ओड़िशा में आकर वहाँ मंत्रयान की शिक्षा ली थी और उसके बाद महाराष्ट्र जाकर वहाँ सिद्धाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए थे। इनके बहुत सारे तंत्र ग्रंथों का विवरण 'तेंगुर' ग्रंथमाला में मिलता है। 'आश्चर्यचर्याचय' में इनके चार गीत उद्धृत हुए हैं।"[57]

उपर्युक्त वाक्यों में एक बात खटकती है। इतिहासकार लिखते हैं कि वे ओड़िशा के निवासी थे और आगे लिखते हैं कि उन्होंने ओड़िशा आकर मंत्रयान की शिक्षा ली थी! यहाँ 'आकर' पद भ्रम पैदा करता है कि यदि कवि का जन्म ओड़िशा में हुआ था, तो फिर कैसे उसके साथ 'आकर' जुड़ सकता है? उन्होंने इस तथ्य के साथ कोई संदर्भ नहीं जोड़ा है अतः यह पता लगा पाना मुश्किल है कि उन्होंने इसे कहाँ से उद्धृत किया है? किंतु अगर यह सच है तो इससे एक और बात सिद्ध होती है कि तब ओड़िशा में मंत्रयान की शिक्षा अवश्य दी जाती होगी। विद्वान मानते हैं कि ओड़िशा में नालंदा की तरह कोई विश्वविद्यालय अवश्य था। **चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने पुष्पगिरि नामक एक समृद्ध विश्वविद्यालय का विवरण प्रस्तुत किया है। इसके अलावा जाजपुर में स्थित रत्नगिरि खंडहर, भुवनेश्वर तथा रानीपुर झरियाल की चौसठ योगिनी आदि अवशेष इस बात को प्रमाणित करते हैं कि एक समय ऐसा था जब ओड़िशा बौद्ध तथा तंत्र साधना का प्रमुख केंद्र बना हुआ था।**

[57] महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ-23

प्रत्नतात्विक साक्ष्य भी इस ओर इशारा करते हैं, क्योंकि ओड़िशा में सबसे अधिक तंत्रसाधना की प्रमुख देवियों की मूर्तियाँ मिलती हैं।[58]

आगे उन्होंने 'तंजुर' ग्रंथ को संदर्भित कर कुछ सिद्धाचार्य और उनकी ग्रंथ-सूची दी हैं। जिसमें राहुलभद्र नाम आता है और उनके ग्रंथ का नाम 'अचिंत्य परिभावना' है। उसी तरह सबरभद्र का नाम आता है, जिनकी रचना का नाम 'वज्रगीतापवाद' है।[59] आश्चर्य की बात है, उसमें सरहपा का नाम नहीं है। **'तांजुर'** एक चर्चित पुस्तक है। उसमें आदि सिद्ध तथा मंत्रयान के प्रधान प्रचारक सरहपा का नाम न आना अचरज में डाल देता है। राहुलभद्र और शबरभद्र का नाम अवश्य ही आया है। राहुलभद्र और शबरभद्र एक हो सकते हैं, यदि उनके शिष्य लुईपा हुए तो या फिर अलग हो सकते हैं, जिसमें शबरिपा को सरहपा का नाम उन्हें गुरु के रूप में ग्रहण करने के बाद मिला था। किंतु तारानाथ के विवरण में यह भी दिखता है कि राहुलभद्र शबरिपा से अलग और पहले आते हैं। तारानाथ का विवरण कुछ इस प्रकार है- राहुलभद्र> नागार्जुन> शबरिपा> लुई> डोंबी> तिल्ली> नारोपा> शिशुडोंबी> कुशालीभद्र।[60] अतः विद्वानों को यह संदेह होता है कि राहुलभद्र ही सरहपा हैं। या यह भी संभव है कि 'सरहपा' एक उपाधि है, जो राहुलभद्र और शबरपा के लिए इस्तेमाल हुआ है। अगर राहुलभद्र ही सरहपा हैं तो 'तांजुर' के अनुसार उनकी कृतियों की सूची में एक और ग्रंथ शामिल होगा: 'अचिंत्य परिभावना', जो राहुल सांकृत्यायन के द्वारा प्रदत्त सरहपा के ग्रंथों की सूची में भी शामिल नहीं है।

पहले से ही यह चर्चा हो चुकी है कि ओड़िया साहित्य का इतिहास 20 वीं शताब्दी की शुरुआत से ही लिखा जाना आरंभ हो गया था किंतु सिद्धों और सरहपा की चर्चा थोड़े बाद में हुई।[61]

---

[58] देखें, बुद्धिज़्म इन ओरिसा, नवीन कुमार साहु तथा *ओड़िया साहित्य र आदिपर्व*,महांति सुरेंद्र, पृ-10-11

[59] महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ-27

[60] महापात्र खगेश्वर, *चर्या गीतिका*, पृ- 11

[61] वही, पृ- 43

एक मत यह है कि 'चर्यागीतिका' की भाषा प्राचीन ओड़िया और अधिकांश सिद्धाचार्य उत्कलीय हैं। विजयचंद्र मजूमदार ने 'History of Bengali Language' में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि चर्यागीतिकाओं की भाषा प्राचीन बांग्ला की नहीं है और यह उल्लेख किया है कि इनमें ओड़िया भाषा के रूप विद्यमान हैं।[62] उन्होंने इसपर 'बंगवाणी' पत्रिका में विशेष चर्चा की है। मजूमदार साहेब ने जिन सूत्रों को प्रतिपादित किया है, उन्हीं की मदद से पंडित विनायक मिश्र जी ने 'ओड़िया भाषा के इतिहास' में चर्याओं की भाषा प्रचीन ओड़िया कहा है।

1930 ई. में पटना के 'ओरिएंटल कॉन्फ्रेंस' के छठे अधिवेशन में श्री गोपाल चंद्र प्रहराज ने अपने अभिभाषण में यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि चर्याओं की भाषा प्राचीन ओड़िया है, जिसे उन्होंने अगले ही वर्ष यानी सन् 1931 में 'भाषाकोष' के पहले खंड के मुखबंध में दृढ़ता के साथ स्थापित किया है। किंतु तथापि यह द्रष्टव्य है कि उन्होंने इस दिशा में अधिकाधिक शोध की जरूरत को महसूस किया है और कहा है:

"Before we can claim the fruits of the Mahamohapadhyaya's labour to be ours, we must devote much more research to the subject that we have done yet and unearth some materials from which we can independently establish that the language and the script used in the Nepalese manuscripts are Oriya and not Bengalee."[63]

उपर्युक्त पंक्तियाँ इस महत्वपूर्ण कर्तव्य की ओर इशारा करती है कि किसी चीज़ पर अपना अधिकार जमाने से पहले हमें उसपर अधिक शोध करने की आवश्यकता है। यह उक्ति उन सभी भाषाओं के विद्वानों के लिए लागू होती है, जो सिद्धों और सरहपा पर दावे करते हैं, कि ये उनके हैं।

---

[62] वही, पृ-43

[63] Proceeding of the Oriental Conference, Vol-VI, Patna 1930, Page- 381, महापात्र खगेश्वर, *चर्या गीतिका*, पृ-46

तत्पश्चात् डॉ. करुणाकर कर ने इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण काम किया। उन्होंने सन् 1949 ई. में सिद्धों के ऊपर शोध करके पी.एच.डी. की डिग्री हासिल की। आगे उन्होंने 'आश्चर्यचर्याचय' नाम से एक पुस्तक निकाली। अगर यह हिंदी या अंग्रेज़ी में अनुवाद होगा तो सिद्ध साहित्य में ओड़िया को राष्ट्रीय पहचान मिल पाएगी। उन्होंने संस्कृत, ओड़िया, हिंदी, बांग्ला, अंग्रेज़ी आदि ग्रंथों को संदर्भ में लिया है व महत्वपूर्ण खोज की है। प्राचीन अभिलेखों, प्रत्नतात्विक अवशेषों तथा ओड़िया व अन्य भाषा-साहित्य के भक्तिकाल आदि से आधार ग्रहण करके, एक मील का पत्थर तैयार किया है।

उन्होंने 'आश्चर्यचर्याचय' में सरहपा पर विशेष दृष्टि न देकर, चर्या गीतों के जरिए उन्हें सिद्धों के साथ रखा है। विभिन्न तथ्यों को रेखांकित करके (तारानाथादि की) यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि सरहपा ओड़िशा से संबंध रखते थे। इतिहासकार महोदय ने सरहपा का विवरण कुछ इस तरह दिया है:

"सरह बौद्ध तंत्रयान के एक प्रधान प्रचारक थे। तारानाथ तथा 'पाग साम जन जान' के लेखक के अनुसार सरह बौद्ध तंत्रवाद के एक अतिप्राचीन लेखक और प्रचारक थे। असंग के समय से बौद्धतंत्रशास्त्र गुप्त रूप से गुरु-शिष्य परंपरा के रूप में प्रचारित होता था। इंद्रभूति और सरह ने प्रकाश भाव से बौद्धतंत्रशास्त्र का प्रचार किया था। तारानाथ ने सरह को आदि सिद्ध के रूप में ग्रहण किया है। उनके 'बुद्धकपालतंत्र' को उनकी ग्रंथसूची में पहले स्थान में रखा है। 'चक्र संभार तंत्र' में भी उनका नाम पहले स्थान पर है। ये सरह, सरोह, वज्रपद्म, राहुलभद्र के नाम से परिचित थे। 'आश्चर्यचर्याचय' में उनके चार गीत संगृहीत हैं।..."[64]

डॉ. साहेब ने लामा तारानाथ तथा 'पाग साम जान जान' दोनों के तथ्यों की छानबीन की है और लिखा है-

लामा तारानाथ प्रदत्त तथ्य:

---

[64] कर करुणाकर, *आश्चर्यचर्याचय*, पृ- 20

“महाचार्य ब्राह्मण राहुलभद्र का जन्म ओड़िशा में हुआ था। बाल्यकाल से ही उन्होंने वेद-वेदांत पर महारत हासिल कर ली थी। बाद में उन्होंने मध्यदेश में जाकर बौद्ध-धर्म ग्रहण किया था।...स्थविर-काल राहुलभद्र के गुरु थे। कुछ दिन बाद उन्होंने नालंदा में अध्यापन किया। बाद में उन्होंने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। महाराष्ट्र में उन्होंने शरकार कन्या को योगिनी के रूप में ग्रहण किया। राहुलभद्र ने उस योगिनी की सहायता में अपने अस्तित्व को लोप कर के शून्यत्व की प्राप्ति की। तत्पश्चात उन्होंने स्वयं शर बनाया और उस योगिनी के साथ विभिन्न देशों का भ्रमण किया। सिद्धि लाभ के बाद वे सरहपा कहलाए। उनके हाथ में शर हमेशा देखने को मिलता था।...”[65]‘पाग साम जोन जोन’ में जो तथ्य मिलता है, उसका विवरण कर जी ने कुछ ऐसे दिया है:

“सरह या राहुलभद्र के पिता ब्राह्मण और माता डाकिनी थी। वे प्राच्य देश के चंद्रपाल राजा के समय जीवित थे। उन्होंने राजा रत्नपाल के सामने अद्भुत करामात दिखाकर उनको बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। कुछ काल पश्चात् उन्होंने नालंदा में अध्यापन किया। उनके विषय में यह अनुश्रुति मिलती है कि वे ओड़िशा गए थे। **ओड़िशा में उन्होंने चोवेशकल्प से मंत्रयान की शिक्षा ली थी।** उसके बाद वे महाराष्ट्र गए थे। तत्पश्चात उन्होंने शर बनाने वाली कन्या के साथ मिलकर सिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने दोहा गान कर के 5000 लोगों तथा राजा को बौद्धधर्म में दीक्षित किया था।”[66]

दोनों अनुश्रुतियों को देखने के उपरांत कर जी ने निम्न नतीजे को उद्धृत किया है:

“इन दोनों उक्तियों को अगर हम परीक्षा करें तो यह पता चलता है कि दोनों के भीतर कोई प्रभेद नहीं है। लामा तारानाथ ने सरह का जन्म ओड़िशा में दर्शाया था। किंतु अन्य सरह का जन्म पूर्वदेश में माना था, जिसने ओड़िशा में मंत्रयान की शिक्षा ली थी। ओड़िशा भी पूर्वदेश में आता है। अतः सरहपा ओड़िशा के थे, इसमें कोई संदेह नहीं है।”[67]

---

[65] वही

[66] वही, पृ-20

[67] वही, पृ- 22

सिद्धों में सरहपा उतने विवादित न होते अगर 'सरहपा' के नाम से एकाधिक सिद्ध आविर्भाव न हुए होते।उन्होंने आगे अपने तथ्य को और पुष्ट करने का प्रयास किया है-

" कडिअर साहेब ने कई सरहों के होने का शक जताया है। उनको तेंगुर ग्रंथ में महाब्राह्मण, महाचार्य तथा योगीश्वर आदि उपाधियाँ प्राप्त थीं और ये उड्डीयान के थे।...यथार्थ में अगर हम देखें तो राहुलभद्र ने सरह नाम से परिचित होकर ये सारी उपाधियाँ प्राप्त की थी। पहले से यह प्रमाणित हो चुका है कि उड्डीयान और ओड़िशा एक ही देश है। (इसपर विशेष चर्चा अगले अध्याय में होगी) अतः सरह के नाम से कई व्यक्ति थे, इस उक्ति को स्वीकार करने के बावजूद सभी उड्डीयान से या ओड़िशा के थे। तारानाथ ने छोटे सरह और बड़े सरह का प्रभेद बताया है। छोटे सरह का नाम सबरी था वहीं बड़े सरह का नाम राहुलभद्र था।"[68]

तदोपरांत उन्होंने विभिन्न भाषातात्विक साक्ष्यों को सामने रखकर यह घोषणा की है कि सरहपा (बड़े और छोटे) ओड़िशा के थे। यहाँ एक जायज प्रश्न यह उठता है कि **तारानाथ के द्वारा दिए गए विवरण कितने ऐतिहासिक हैं?** जैसे कि Mystic Tales of Lama Taranath में उसके अनुवादक ने लिखा है:

"He said that history of modern sense could not be expected from Taranath. The important matter with him was the reference to the traditional endorsement of certain teaching stuff. Under the Spiritual Protection of his teacher Buddhaguptanath, he wrote enthusiastically the biography of the predecessor of the same with all their extravagances, as well as the madness of the old Siddhas."[69]

---

[68] वही, पृ- 23

[69] दत्त भूपेंद्रनाथ, *मिस्टिक्स टेल्स ऑफ लामा तारानाथ*-सबस्टैंट ऑफ इंट्रॉडक्शन

यानी तारानाथ ने विरासत में जो कथाएँ सुनी थीं, उनका विवरण मात्र प्रस्तुत किया था, उनसे आधुनिक ऐतिहासिक विवेक की आकांक्षा हम नहीं कर सकते। ये कथाएँ समय और व्यक्तियों के साथ बदलती रही हैं। अतः उनमें विकार आना अधिक संभव है।

किंतु प्रत्यक्ष तथा परिपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव के मद्दे नज़र रखते हुए तारानाथ के तथ्य महत्वपूर्ण हैं, जिनका इस्तेमाल अधिकांश इतिहासकारों ने किया है। आज सरहपा को लेकर संपूर्ण प्राथमिक ऐतिहासिक तथ्य मिलना लगभग नामुमकिन है। अतः हमें तारानाथ आदि के विवरण पर ही काम चलाना पड़ेगा, जो संपूर्ण सत्य आधारित न होते हुए भी महत्वपूर्ण अवश्य है।

मैंने डॉ. कर जी के तथ्यों की छानबीन करने की कोशिश की तथा Mystic tales of Lama Taranath से गुजरकर पाया कि उसमें निम्न रूप से विवरण प्रस्तुत किया गया है:

"What concerns the first inspiration it was the Mahamudra Revelation. Its adept was Mahacharya Brahmana Rahula Bhadra born in the country of Odivisa. By caste he was a Brahmana…"[70]

उपर्युक्त पंक्ति में यह बात विशेष ध्यान की माँग करती है कि लामा तारानाथ ने राहुलभद्र का जन्म ओडिविसा में बताया है। भुपेंद्रनाथ दत्त ने प्राक्कथन में ओड़िविसा को ओड़िशा कहा है किंतु ओड्डीयान को स्वांत उपत्यका कहा हैः

"That India had connection with the outside world at the piriod dealt by Taranath. …Kamaru is the Tibetan contraction of the Indian name Kamarup, Odivisa is Orissa, Otantapuri is Odantapuri, Udyan or Udayan is Udyan (Today's Cabul and Swat Valley)"[71]

खटकने वाली बात यह है कि जहाँ ओडिविसा की बात आती है वह ओड़िशा संबंधित है। वहीं जहाँ उड्डीयान की बात आती है, वहाँ इतिहासकार ने उसे सुदूर पश्चिम के एक उपत्यका के साथ जोड़

---

[70] *मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ*, पृ- 8

[71] वही, फर्वर्ड

दिया है। हिंदी में डॉ. धर्मवीर भारती ने भी इसी राह का अनुसरण किया है। दरअसल **कई मायनों में ओडिविसा और उड्डीयान एक ही स्थान को प्रतिपादित करते हैं और वह है ओड़िशा।** इसका प्रमाण हमें 'Mystic tales of Lama Taranath' में ही मिल सकता है, जब लेखक इंद्रभूति के बारे में बताते हैं।

"The great King Indrabhuti was master in Guhya Tantra. He was the king of Udayana who saw the materialized face of Buddha… Mahapandit Rahul Sankrityayana who is a great scholar of Buddhism tells the translator that there had been only one king Indrabhuti who was of Orissa(Odivisa). In that case Taranath must have made a mistake in calling him the king of Udayana"[72]

दरअसल उड्डीयान और ओडिविसा एक ही है, जिसे तारानाथ और सांकृत्यायन ने ओड़िशा से संबंधित बताया है। इसके कई कारण हैं। स्वात उपत्यका को उड्डीयान कहना एक भ्रम है, जिसका विरोध तथ्यों के साथ डॉ. कर तथा डॉ. नवीन कुमार साहु ने अपनी अपनी पुस्तकों में किया है तथा जो युक्ति संगत भी लगता है। उसकी व्यापक चर्चा आगत अध्याय में की जाएगी।

'तेंगुर' ग्रंथसूची में सरह के नाम से 25 ग्रंथों की सूचना मिलती है। उनमें से 6 ग्रंथ 'दोहाकोश गीति' और 'चर्यागीति' के विषय में कुछ ग्रंथ लिखे गए है। सरहपा के द्वारा लिखित 'दोहाकोश' संस्कृत में टीका के साथ प्रकाशित हुआ है, जिसका टीकाकार अद्वयवज्र हैं और उन्होंने ओड़िशा के आराध्य जगन्नाथ की स्तुति करते हुए, टीका का प्रारंभ किया है। इस तरह सरहपा का संबंध ओड़िशा के साथ जुड़ता है।

डॉ. करुणाकर कर के बाद सन् 1951 में ही पटना से हिंदी भाषा में प्रो.आर्तवल्लभ महांति की पुस्तक 'उत्कल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' छपती है। हिंदी में छपने वाली ओड़िया साहित्य के

---

[72] वही, इंस्पिरेशन-III- पृ-18

इतिहास की यह अपने आप में महत्वपूर्ण तथा पहली पुस्तक थी, जिसमें सिद्धों की व्यापकता से चर्चा हुई है। इसी बीच अंग्रेज़ी भाषा में एक महत्वपूर्ण पुस्तक आती है, **जिसका नाम 'Buddhism in Orissa' (1958) है। इसके रचयिता डॉ. नवीन कुमार साहु है। यद्यपि इसमें ओड़िया साहित्य के इतिहास के बारे में न के बराबर जिक्र हुआ है, क्योंकि यह इतिहास की पुस्तक है, किंतु बौद्ध-सिद्ध-साहित्य के इतिहास के संबंध में जानकारी के लिए ये अबतक का सबसे वैज्ञानिक इतिहास कहा जा सकता है। इसमें नवीन ने पहली बार अभिलेख, प्रत्नतत्व आदि की मदद ली है। पहली बार प्रत्नतत्व की मदद लेकर यह सिद्ध किया है कि सरहपा का संबंध ओड़िशा से था।** जिसकी चर्चा स्वतंत्र रूप से अगले अध्याय में की जाएगी। डॉ. साहु की 'बुद्धिज़म इन ओरिसा' पुस्तक की तारिफ में खगेश्वर महापात्र जी ने लिखा है-

"डॉ. साहु ने भाषा की दृष्टि से कोई आलोचना नहीं की है, किंतु धर्म तथा इतिहास की दृष्टि से उन्होंने चर्या के कई लेखकों को उत्कल के निवासी के रूप में सिद्ध करने तथा ओड़िशा को तांत्रिक बौद्धधर्म की प्रधानभूमि ओड्डीयान के नाम से प्रमाणित किया है। चर्या और ओड़िया के अंतर्संबंध के संबंध में उनकी पुस्तक काफी सहायता प्रदान करती है।"[73]

इन इतिहासकारों के अलावा डॉ. विनायक मिश्र के 'ओड़िया भाषा र इतिहास'(सन् 1971), डॉ. निलकंठ दास कृत 'ओड़िया साहित्य र क्रम परिणाम', श्री वृंदावन नाथ शर्मा विरचित 'उत्कल साहित्य', डॉ. सूर्यनारायण दाश द्वारा रचित 'ओड़िया साहित्य र इतिहास' तथा मायाधर मानसिंह द्वारा रचित 'History of Oriya Literature' (Sahitya Akademi 1962) आदि रचनाएँ अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, जिनमें सरहपा के संबंध में न्यूनाधिक चर्चा हुई है।

<u>निष्कर्ष:-</u>

[73] महापात्र खगेश्वर, *चर्यागीतिका*, पृ- 45

ओड़िया में इतनी खोजें होने के बावजूद आज भी ओड़िया को सिद्ध साहित्य में स्थान न मिल पाना दुखद है। कारण 'पाटि जार कपाबारी तार' (जिसकी लाठी उसी की भैंस) है। बंगाल उपनिवेश का गढ़ था। उसी समय ये इतिहास तैयार हुए हैं। प्रभुत्वशाली का ही इतिहास होता है।[74] ओड़िया साहित्य का ढंग के अनुवाद न हो पाने के कारण तथा विद्वान और पाठकों का बांग्ला की तरफ रुख के कारण ओड़िया आज भी पीछे रह गई है। वह मौन चित्कार कर रही है। सिद्धों के इतिहास में अपना एक हिस्सा माँग रही है। किंतु कोई सुनने को तैयार नहीं। दरअसल यहाँ फिर से एक बात दोहराई जा रही है कि सिद्ध तथा सरहपा सौ प्रतिशत ओड़िशा के नहीं थे, जैसे वे बांग्ला या हिंदी के भी नहीं थे। किंतु यह भी कहना समीचीन होगा कि इनका संबंध कहीं न कहीं न्यूनाधिक मात्रा में ओड़िशा से था। इसपर और अधिक वैज्ञानिक तर्क अगले अध्याय में दिए जाएँगे। किंतु तथापि इससे यह सिद्ध नहीं होता या होगा कि सरहपा ओड़िशा के ही थे। दरअसल मैं अभी भी यह कहता हूँ सरहपा ने चाहे कहीं भी जन्म लिया हो, चाहे वे कहीं भी रहे हों, उनकी भाषा चाहे आज की पूर्वी भारतीय भाषाओं के कितने भी निकट हों, वे असल में हम सब के पूर्वज हैं। हम सब की धरोहर है। हमें उनको लेकर लड़ाई नहीं, अपितु गर्व करना चाहिए। नदी, कवि और पक्षी तथा हवा आदि में किसी एक का एकछत्र अधिकार कतई नहीं हो सकता, इनको सीमाएँ बाँट नहीं सकती, पिंजरें कैद नहीं कर सकती, चाहे कितनी भी कोशिश कर लें, ये मुक्त है। इनको अधिकार के बंधन से मुक्त करके देखें, दुनिया और सुखद बन जाएगी।

---

[74] मैनेजर पाण्डेय ने बांग्ला भाषा के सामने ओड़िया की त्रासदी की बात अपनी पुस्तक साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका में की है। यह सर्वविदित है कि बंगाल भाषावितों ने ओड़िया के साथ-साथ असमिया भाषा के अस्तित्व को भी नकारा है।(बंगाल के आलोचकों में से कुछ लोग अब भी कहते हैं, पहले बंग का अर्थ असाम, बिहार, ओड़िशा सभी उसके अंतर्गत था... बौद्धधर्म और चर्यागीति, दासगुप्ता शशभूषण, पृ- 107, महापात्र खगेश्वर, *चर्यागीतिका*, पृ- 19)

तीसरा अध्याय

भारतीय इतिहास में सिद्धों का उदय तथा हिंदी के ऐतिहासिक जगत् में सिद्ध सरहपा

(शुक्ल, द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन तथा धर्मवीर भारती के विशेष संदर्भ में)

<u>अध्याय का सामान्य परिचय:-</u>

काल की कठोर आवश्यकताएँ महात्माओं को जन्म देती हैं:(कबीर ग्रंथावली- श्यामसुंदर दास)

कबीर की तरह काल की माँग से ही सरहपा का जन्म हुआ था। उस संधि-काल में रुकी हुई समाज को एक धक्के की आवश्यकता थी। सरहपा ने न सिर्फ धक्का दिया बल्कि तत्कालीन समाज को पतनोन्मुख से बचाया। सरहपा भारतीय साहित्य के सबसे विवादित कवियों में एक हैं। उनका जन्म आज से क़रीब 1300 साल पहले उस काल में हुआ था, जिसका हमारे सामने अधिक प्रामाणिक-प्राथमिक-ऐतिहासिक तथ्य मौजूद नहीं हैं। ऐतिहासिक तथ्यों के बिना इतिहास पंगु होता है। साहित्य का इतिहास भी इस बात से अलग नहीं ठहरता।

सरहपा का जन्म, उनकी रचनाएँ सब कुछ विवादित हैं। सरहपा का समय तथा भारतीय इतिहास में सरहपा को स्थानित करने के समय में काफी समानताएँ हैं। जैसे सरहपा का जन्म संधिकाल में हुआ था, वैसे ही सरहपा को इतिहास में जगह एक भारी संधिकाल(उपनिवेश काल) में मिली। भारतीय इतिहास में जब सरहपा को स्थान दिया गया, तब आंचलिक अस्मिता की बहसें शुरू हो गई थीं। भारत के भीतर अपने पूर्व महा-मनीषियों को प्रांतीय बनाने की बौद्धिक रस्साकस्सी से उफनी चिंगारी आग बन चुकी थी, 'चिर-आग'। उपनिवेशवादी संस्कृति ने देश को टुकड़ों में बांट दिया था। भाषाई अस्मिता को लेकर आपस में बौद्धिक युद्ध शुरू हो गया था। देश के सभी क्षेत्र अपने आप को तथा अपनी संस्कृति को महान् सिद्ध करने के लिए प्रतिस्पर्धा करने लगे थे । जिसका परिणाम यह हुआ कि विभाजन के बाद भी देश विभाजित होकर हिस्सों में बंट गया। जैसे आज तक भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश के विभाजन की त्रासदी से देश उबर नहीं पाया है, ठीक वैसे ही भाषा, प्राकृतिक-सांस्कृतिक धरोहर तथा महापुरुषों आदि के कारण प्रदेशों के विभाजन की त्रासदी भी कम नहीं है। दुख इस बात का है कि देश विभाजन

की त्रासदी की बात सब करते हैं, किंतु प्रदेशों, महापुरुषों तथा प्राकृतिक-सांस्कृतिक धरोहर के बंटने के कारण हुई क्षति की बात कोई नहीं करता। इतिहास साक्षी है कि देश की नदियों तथा महापुरुषों को राजनैतिक कारणों से जितने टुकड़ों में बांटा गया है, उतना किसी और को नहीं। एक जीवन प्रदान करती हैं तो दूसरे जीवन जीना सीखाते हैं।

इसमें साहित्यिक महापुरुषों की बात अगर करें तो जयदेव, सरहपा, विद्यापति, मीरा जैसे महान् कवि को बंटवारे की बलिवेदी पर चढ़ाया गया है। अतः आज से 1300 साल पहले क्या हुआ था, उसे समझने के लिए हमें आज से करीब 100 साल पहले क्या हुआ था उसे जानना ज़रूरी है, क्योंकि वर्तमान सिर्फ भविष्य को प्रभावित नहीं करता बल्कि अतीत की घटनाओं के दस्तावेजीकरण को भी प्रभावित करता है। इसमें यदाकदा इन घटनाओं को दर्ज करने वाले इतिहासकारों के व्यक्तिगत प्रभाव का रंग चढ़ जाता है। उसके समकालीन सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी उस इतिहास को प्रभावित करती हैं। प्रकारांतर से हम यह कह सकते हैं, इतिहासकार की मनोदशा तथा उसके व्यक्तिगत विचार इतिहास लेखन को प्रभावित करते हैं। इस विषय पर ई. एच. कार की निम्नांकित पंक्ति प्रासंगिक है-

"...पहली, आप इतिहासकार की कृति को तब तक नहीं समझ सकते जब तक कि आप उसके दृष्टिकोण को न समझ लें, जिसके द्वारा उसने इतिहास का अध्ययन किया है। दूसरी, इतिहासकार के उस दृष्टिकोण की जड़ें उसकी ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में होती हैं।"[75]

जॉन बर्जर ने भी कुछ यही कहा है-

"The Way we see things is affected by what we know or what we believe….We only see what we look at. To Look is an act of choice."[76]

अर्थात् हमारा ज्ञान और हमारा विश्वास हमारी दृष्टि को प्रभावित करते हैं, हम वही देखते हैं, जो हम देखना चाहते हैं। हमारी दृष्टि हमारे चयन पर निर्भर रहती है। प्रकारांतर में हमारा चयन हमारे विश्वास

---

[75] कार ई. एच, *इतिहास क्या है*, पृ-30

[76] बर्जर जॉन, *वै ऑफ सीइंग*, वै ऑफ सीइंग[डॉट]कॉम

और पसंद-नापसंद पर अवलंबित है। कोई भी इतिहासकार जिसने सरहपा को इतिहासबद्ध किया है, उसकी दृष्टि, उसके विश्वास सब कुछ इस इतिहासबद्ध की प्रक्रिया में काम आए हैं। अतः उन इतिहासकारों की दृष्टि, विश्वास आदि की छानबीन करते हुए, सरहपा के संबंध में विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण का मूल्यांकन होना अनिवार्य है, आगे यही कोशिश रहेगी।

भारतीय इतिहास जगत् में सिद्धों तथा सिद्ध सरहपा का उदय:-

19 वीं सदी के अंतिम दशक और 20 वीं सदी की शुरुआत में देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर खिल गई, जिसने देश को सभी दिशाओं से आंदोलित किया। सभी अपनी सांस्कृतिक विरासत की पहचान करने तथा उसके संरक्षण के लिए जुट गए। सभी इस मूलभूत बात को भूल गए कि सभी संस्कृतियाँ मिलकर 'भारतीय महासंस्कृति' का निर्माण करती हैं। इसकी फिक्र किए बिना सभी आंचलिकता की दृष्टि को अपनाने लगे, जिससे इतिहास आंचलिकता के बोझ तले दब गया।

यह 'भारतीय-इतिहास' के इतिहास लेखन का स्वर्ण युग था। भारत के प्रायः सभी क्षेत्रों में इतिहास लेखन की लहरें उमड़ने लगीं। क्योंकि बंगाल उपनिवेश के निकटतर था, अतः उसपर तथा उसके इतिहास लेखन पर उपनिवेश का सबसे अधिक असर रहा। यह वह समय था जब भाषादि के मामले में कुछ नवीन मान्यताएँ उभरीं। कुछ भाषाओं ने अपनी अस्मिता खो दी, कुछ ने वैश्विक पहचान पैदा की। पूर्वी भारतीय भाषाओं की अगर बात हो तो, ओड़िया व असमिया आदि दब गईं और उपनिवेश के गढ़ में प्रचलित बांग्ला वैश्विक भाषा बन गई, जबकि सांस्कृतिक भाषा की मान्यता के अनुसार ओड़िया बांग्ला से भी पुरानी भाषा मानी जाती है, जो इकलौती नवीन भारोपीय भाषा परिवार की भाषा है,संस्कृत तथा अन्य चार द्रविड़ों के साथ। पूर्वी भारत का अतीत और उसकी सभी चीज़ों पर, खासकर साहित्य पर, इन सारी भाषाओं की हिस्सेदारी थी। जो कुछ भी था, इनका पूर्वज था। किंतु वह केवल

बांग्ला का हो गया।इसकी चर्चा पहले से ही हो जुकी है कि बांग्ला में 'ओड़िया स्वतंत्र भाषा नहीं है' के नारे ज़ोर पकड़ने लगे।[77] असमिया के साथ भी यही हुआ। यह इन भाषाओं तथा उनके साहित्य के लिए सबसे त्रासद समय था।[78] यद्यपि उस भाषाई-जल-प्लावन की बेला में कुछ बंगाल के विद्वान ऐसे भी थे, जिन्होंने पतवार की तरह इन डूबने की कगार पर ठहरी भाषाओं का साथ दिया, जो सुखद आश्चर्य से कम नहीं है।

उपनिवेश का सबसे बड़ा अस्त्र यही था कि 'बांटो और शासन करो'। इसका यह परिणाम हुआ कि भारत सांस्कृतिक रूप से टुकड़ों में बंट गया। ठीक इसी वक्त बंगाल में कुछ अच्छा भी हुआ, वहाँ सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण की हवा बहने लगी। कई महान् खोजियों को बंगाल की मिट्टी ने पैदा किया। इन खोजियों ने अकथ-अथक परिश्रम से कई खोजें कीं। इतिहास के गर्त में खोए कई बड़े कवियों को इन खोजियों ने ढूंढ निकाला। इनमें सरहपा तथा अन्य सिद्ध तथा दादू, कबीर आदि कितने ही कवि-संत शामिल थे। लगभग सभी महान् खोजें बंगाल में या फिर बंगाल से शुरू हुईं। आगे अन्य प्रांत के विद्वानों की दृष्टि भी इन पर गई। सबको अपने-अपने पुरखें इन कवियों में नज़र आए। सबको अपनी-अपनी भाषाओं के अंश इन कवियों की भाषाओं में झलकते हुए दिखने लगे। यहीं से एक कभी न ख़त्म होने वाला विवाद शुरू हो गया। सभी वैचारिक लड़ाई लड़ने लगे। सभी भूल गए कि ये कवि उस युग के हैं, जिस समय की भौगोलिक, भाषाई, सांस्कृतिक स्थिति कुछ और ही थीं। **ये विद्वान 100 साल पहले उपनिवेशीकरण के कारखाने से बने दूरबीन से 1000-1500 साल पहले की तस्वीरों को देख रहे थे। जिसका परिणाम यह हुआ कि उन विद्वानों की खोजें त्रुटिपूर्ण हो गईं ।** उनमें इन खोजियों की व्यक्तिनिष्ठता आ गई। यथा-तथ्य की जगह मिथ्या-तथ्य ने ले ली। इतिहास में दर्ज तथ्यों

---

[77] पाण्डेय मैनेजर, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ-288

[78] और किसी भारतीय भाषा को खुद की स्थिति को बनाए रखने के लिए इस तरह का कठिन संग्राम करना नहीं पड़ा है, जिस तरह ओड़िया को करना पड़ा है। कोई भी भारतीय भाषा ने अपनी प्रतिवेशी भगिनी भाषाओं के दौरात्म्य के कारण अपनी अधिकार भूमि को ऐसे खो नहीं दिया है, जिस तरह बेचारी ओड़िया ने खोया है। मानसिंह मायाधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ- 51

में ऐतिहासिकता कम व्यक्ति केंद्रित स्वीकृतियाँ अधिक होती हैं, जो इतिहास महासागर को दूषित ही करती हैं। चाहे विवाद केंद्रित होकर कोई भी घटना कितनी ही मनोरंजक क्यों न हो जाए, पर उसे शाश्वत इतिहास कतई नहीं कहा जा सकता है। इसी ने ही सरहपा को विवाद के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया है। सरहपा आज के कवि नहीं थे, वे करीब 1300 साल पहले के सिद्ध-कवि थे, उस समय की भाषा अपनी स्वतंत्र पहचान रखती थी। तब की भौगोलिक संरचना आज से बिल्कुल भिन्न थी। अतः सरहपा उस समय की प्रचलित भाषा के कवि हैं। आज के विद्वान उन्हें अपनी-अपनी भाषा के कवि सिद्ध करने की होड़ में हैं। हिंदी वाले उन्हें हिंदी का सिद्ध करना चाहते हैं तो ओड़िया वाले ओड़िया का, वहीं बांग्ला वाले बांग्ला के कवि मानते हैं। कोई यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि ये तब के कवि हैं, जब ये भाषाएँ अपने अस्तित्व में नहीं आई थीं। सरहपा ने भी एक भी जगह अपने आप को न ही बांग्ला का कवि कहा है, न ही ओड़िया का, न उन्होंने कभी कहा है कि मैं मैथिली का कवि हूँ, जिसके बल पर हिंदी के विद्वान उन्हें हिंदी का कवि मान रहे थे। न सरहपा न ही अन्य किसी सिद्ध कवि ने अपनी भाषा का नाम बताया है। फिर उनको लेकर ये बौद्धिक लड़ाई क्यों हो रही है और किस आधार पर? क्या इसे इतिहास कहा जाए, जो कोरे विवाद पर टिका हो? हाँ, उन्होंने एक पंक्ति में ख़ुद को बंगाल का जमाई कहा है, जिसका सीधा अर्थ भी हो सकता है और तीर्यक(गूढ़-रहस्य) भी हो सकता है।[79] **यहाँ पुरुषोत्तम अग्रवाल की एक उक्ति से हम गुज़र सकते हैं, जिन्होंने अतीत के अतीतपन के सम्मान की माँग की है, सरहपा के अध्ययन के वक्त हम इस पंक्ति को सामने रख सकते हैं- "अतीत से सीखना ज़रूरी है, लेकिन सीखा तभी जा सकता है, जब हम अतीत के अतीतपन का सम्मान करें। वर्तमान के राजनीतिक या सामाजिक द्वंद्वों को अतीत पर आरोपित करने से वर्तमान और अतीत दोनों की समझ धूमिल होती है।"**[80]

---

[79] ... बंगे जाया निलेसि परे भागेल तोहर बिणाणा..महापात्र खगेश्वर, *चर्या गीतिका*, पृष्ठ- 133

[80] हौली, जॉन स्ट्रैटन, *भक्ति के तीन स्वर*, भूमिका,पृष्ठ- 14

वे सिद्ध थे। पूरी भारत भूमि उनकी कर्मभूमि थी। उनका संबंध लगभग भारत के अधिकांश भौगोलिक प्रांतों से था। जनश्रुति यद्यपि किसी व्यक्ति के बारे में रोचक तथ्य प्रदान करती है, तथापि इस जन श्रुति से प्राप्त तथ्य ऐतिहासिक कतई नहीं हो सकते। जब अलग-अलग प्रांतों के इतिहासकारों को सरहपा की पंक्तियों में अपने भाषाई तत्व नजर आए, तब भाषा के आधार पर, वे उन्हें अपने प्रांत के कवि के रूप में सिद्ध करने के लिए कई हथकंडे अपनाए। फिर बात सरहपा के जन्म और कर्मभूमि की आई। यद्यपि सरहपा बंगाल के पाल वंश के राजा धर्मपाल के समकालीन थे(राहुल जी और धर्मवीर जी ने इसपर व्यापकता से चर्चा की है) किंतु इस बात से यह कतई सिद्ध नहीं होता कि उनका जन्म बंगाल में हुआ होगा, न ही इससे यह प्रमाणित होता है कि उन्होंने अपना पूरा जीवन बंगाल में बिताया होगा। फिर कैसे वे बंगाल के कवि हो गए। हाँ, कुछ वर्ष के लिए वे नालंदा में रहे अवश्य हैं, किंतु इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि वे नालंदा के और प्रकारांतर में बिहार के कवि हैं। विश्वविद्यालय में रहना और किसी राज्य का निवासी बनना दोनों अलग बात है। दरअसल आज की तरह सरहपा के समय भौगोलिक-राजनीतिक सीमा आवंटित न थी। सबसे बड़ी बात यह है कि अगर सौ साल पहले और उसके बाद से आज तक भारत का ये विशाल भूभाग इन सीमाओं में बंटा न होता, भाषा के आधार पर ये विभाजन न हुए होते, क्या तब भी यह विवाद उठ खड़ा होता कि सरहपा अमुक भाषा के ही कवि हैं, या उनका जन्म अमुक क्षेत्र में हुआ था? क्यों कोई यह नहीं स्वीकार करता कि सरहपा भारतीय कवि हैं, या फिर वे उस समय के भारत के कवि हैं, जब उसकी भौगोलिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ आज की तरह नहीं थीं, अतः वे हम सब के कवि हैं। उनका भाषाई रक्त हम सब में संचरित हो रहा है। उनकी पंक्तियों में हम सब के आज की भाषाओं के शब्द, रूप तथा संरचना मिले हैं जो लाजमी है, क्योंकि उनकी भाषा-नीरा ने ही आज की हमारी भाषाओं को पल्लवित किया है। यह शोध प्रबंध उन महान् खोजियों के तथ्यों की छानबीन करके सरहपा को भारतीय कवि सिद्ध करने की कोशिश करेगा, जिन्होंने अपनी अंतरराष्ट्रीय पहचान बनाई है।

सरहपा सिद्ध थे। कुछ विद्वान मानते हैं,वे 84 सिद्ध में अव्वल, वज्रयान-महायान के सारथी थे। यद्यपि यह संदिग्ध है कि सरहपा कालक्रमानुसार आदि सिद्ध हैं। इसपर डॉ. भारती के विचार प्रासंगिक हैं: **"राहुल जी ने सरह को आदि सिद्ध बताया है और उसके लिए ऐतिहासिक क्रम में उनकी सर्वप्रथम स्थिति को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। किंतु यहाँ पर वे एक भ्रम में पड़ गए हैं। सिद्ध परंपरा में कभी भी आदि सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम से नहीं निश्चित किया जाता है। प्रत्येक संप्रदाय अपने अम्नाय के प्रवर्तक को आदि सिद्ध या आदि नाथ मानता है और यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि यह सिद्ध दूसरे रूप में दूसरी काया में उन सिद्धों का गुरु रह चुके हैं, जो इसके ऐतिहासिक दृष्टि से इसके पहले हुए हैं। मीनपा को स्पष्टतः मत्स्येंद्र के पिता और गुरु माना गया है फिर भी प्रमुख नाथ मत्स्येंद्र ही हैं, मीननाथ नहीं। बाद में गोरख के अनुयायियों ने गोरख को आदि सिद्ध माना है और अन्य सभी नाथों को उनका अवतार। इससे यह सिद्ध होता है कि आदि सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रमानुसार नहीं वरन् सांप्रदायिक महत्व से निर्णीत होते थे।"**[81]

उपर्युक्त पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं। दर असल हिंदी साहित्य में राहुल जी के मतानुसार[82] यह एक तरह से अंधांनुकरण किया गया है कि सरहपा ही कालक्रमानुसार आदि सिद्ध हैं, जबकि सरहपा के काल निर्धारण के संबंध में एक भी ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता, कुछ अम्नाय लूइपा को आदिसिद्ध मानते हैं। यह बात सत्य है कि सरहपा ने ही असंग के समय से चला आ रहा मंत्रयान को प्रतिष्ठा दिलाई थी; **"सरहपा से पहले भी बौद्धों में तांत्रिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, किंतु उनको व्यापक रूप से प्रतिष्ठा नहीं मिली थी। (भारत में पहले सहस्रों ऐसे ग्रंथ थे, जिनमें गुह्य विद्याएँ और तंत्र छिपे थे, किंतु जब श्री सरहपा अवतरित हुए तब वे सब प्रकाश में आ गईं।[83]तारानाथ ने जो गुरु**

[81] भारती, धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृष्ठ-24

[82] स.स्क्य मठ से प्राप्त पोथियों के अनुसार

[83] वही, पृष्ठ-47

परंपरा दी है, उसमें भी स्पष्ट बताया गया है कि महामुद्रा साधना का पहली बार सरहपा ने ही अभ्यास किया, उसकी सिद्धि की और तब अपनी दोहा-वज्रगीतियों में इस पद्धति का प्रचार करना आरंभ किया।"[84]

अर्थात् सरहपा यद्यपि काल क्रमानुसार पहले सिद्ध न ठहरते हों, किंतु उन्होंने पहली बार बौद्ध-तंत्र साधना को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया(शबरपा?), जिसका अनुसरण आगे के सिद्धों ने किया। डॉ. धर्मवीर भारती जी ने आगे बिल्कुल सही लिखा है:-

"तिब्बती वृतांतों में बहुत से अंतर्विरोध भरे हुए हैं, अतः किसी भी निर्णय तक पहुँच सकना कठिन है। किंतु इतना मानने में कोई बाधा नहीं कि बौद्ध तंत्रों के प्रवर्तन में सरहपा का बहुत बड़ा महत्व है और चाहे वे कालक्रम में सर्वप्रथम न हों जैसा राहुल जी का आग्रह है, किंतु उन्हें महत्व की दृष्टि से आदि सिद्ध माना जाता रहा है।"[85]

उनके व्यक्तित्व के बारे में उनकी रचनाओं में आई कुछ बोझिल बातें तथा किंवदंतियाँ सम्यक साक्ष्य प्रदान करती हैं,जो पूर्णतः ऐतिहासिक न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं। उनकी प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि उनके महानिर्वाण के बाद भी अलग-अलग शताब्दियों में अलग-अलग सिद्ध-गुरुओं ने उनके जीवन का विवरण प्रस्तुत किया है(तारानाथ आदि)। जिनसे उनके व्यक्तित्त्व का झीना-परिचय मिलता है। 'नाना मुनि-नाना मत' के कारण, आज उनसे संबंधित यथार्थ साक्ष्य मिलना कठिन हो गया है, इसमें लंबी समयावधि ने इस काम को और अधिक दुष्कर बना दिया है । उन्होंने जो कुछ भी किया है, कविता में उसे उतारा है। सरहपा के नाम पर जो भी कविताएँ आज प्राप्त होती हैं, उनमें से अधिकांश पंक्तियों को मनीषीगण संदिग्ध मानते हैं। विद्वान उनमें प्रक्षिप्त अंशों के जुड़े होने की आशंका करते हैं। सरहपा को पढ़ते हुए भी ऐसा मालूम होता है। इसका सबसे बड़ा कारण उनकी पंक्तियों के संकलनकर्ता

---

[84] भारती, धर्मवीर, *सिदध साहित्य*, पृष्ठ-47

[85] वही, पृष्ठ- 25

वे स्वयं नहीं हैं, बल्कि उनके विभिन्न शिष्य हैं। कबीर की तरह सरहपा भी वाणियाँ कहते थे, उनको लिपिबद्ध कोई और करता था। आगे अद्वयवज्र जैसे अनुयायी प्रमुख और विशेष हैं, जिन्होंने इनपर टीकाएँ लिखीं। कुछ विद्वानों ने तो सरहपा के नाम से एकाधिक व्यक्ति की कल्पना भी की है। कुछ अन्य विद्वानों ने(डॉ. भारती ने जिन्हें शुद्धतावादी कहा है[86]) सरहपा की कविताओं को कोरे रहस्यवाद के परिचायक तथा 'अपभ्रंश' की मानकर हिंदी साहित्येतिहास के भीतर रखकर उन पर विचार करना भी ग़लत समझा है। अन्य कई उन्हें अपनी भाषा के ही कवि, कहकर एकछत्र घोषणा करने में तथा सिद्ध करने के लिए कई नुस्खे अपनाने में व्यस्त हैं। उनके जीवन काल में रचित उनके मुख से निसृत वाणियों के असली दस्तावेज आज लगभग अप्राप्य हैं। हाँ, उनकी कविताओं का नेपाली और तिब्बती आदि भाषाओं में अनुवाद हुए हैं, जो मौलिक न होने के कारण उनके व्यक्तित्व के साक्ष्य के लिए संपूर्ण मान्य नहीं हैं। ऐसे कई कारणों की वजह से सरहपा के व्यक्तित्व को समझना और उनका यथार्थ तथा तटस्थ मूल्यांकन करना कठिन है। किंतु उनके व्यक्तित्व के विषय पर, इस अध्याय में हिंदी के विद्वानों ने क्या मत दिए हैं, उन पर अवश्य ही रोशनी डाली जाएगी।

सरहपा के संबंध में हिंदी और ओड़िया से पहले, बांग्ला में चर्चा शुरू हुई। हिंदी में उन पर थोड़े समय बाद शिथिलता के साथ चर्चा आरंभ हुई(शुक्ल के इतिहास के साथ), ओड़िया में इसके एक वर्ष बाद यानी सन् 1930 को गोपालचंद्र प्रहराज के द्वारा सिद्धों के साथ सरहपा पर बात आरंभ हुई। यद्यपि उसका यथार्थ इतिहास के लेखन का श्रीगणेश तारिणी चरण रथ जी के द्वारा 1916 ई. (इत्तेफाक से 'बौद्धगान ओ दोहा' का संकलन भी महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने इसी वर्ष किया था, जो सरहपा और सिद्धों से संबंधित पहली व्यापक और विशिष्ट रचना है) में 'उत्कल साहित्य र इतिहास' नाम से हो चुका था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी उनपर कठिन परिश्रम किए हैं, उन्हें नज़रअंदाज नहीं

[86] भारती, धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ-51

किया जा सकता। इसकी चर्चा हो चुकी है कि जर्मन भाषा में सबसे पहले खोज हुई, किंतु सन् 1944 में जाकर अंग्रेज़ी में अनुवाद होने के बाद वह प्रकाश में आई। [87]

बंगाल में बौद्ध-सिद्धों पर शोध बीसवीं शताब्दी से भी काफी पहले से ही शुरू हो गया था। काफी पहले से ही शरतचंद्र दास (1849-1917)[88] जैसे बंगाल में पैदा हुए महान् खोजियों ने सिद्धों पर काम करने के लिए हिमालय के दुर्गम अडिगों को पार करने के रास्ते बता दिए थे। शरतचंद्र ने स्वयं कई दुर्मूल्य ग्रंथों के प्रकाशन किए हैं, जिन से तिब्बती धार्मिक संस्कृति को पता किया जा सकता था। उनको पढ़कर बंगाल के नवागत खोजियों को नेपाल तथा तिब्बत जैसी भूमि में फैली धार्मिक संस्कृति पर शोध करने की प्रेरणा मिली। जिनमें दास जी की पुस्तकें हैं- सन् 1882 को 'एशियाटिक सोसाइटी' से प्रकाशित 'कॉन्ट्रीब्यूशन ऑन दी रिलिजन', 'हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ तिबेट', 'नैरेटिव ऑफ अ जर्नी टू ल्हासा'(1882), 'अवदान कल्पलता: अ कलेक्शन ऑफ लीजेंडरी स्टोरीज अबाउट दी बोधिसत्व'(एशियाटिक सोसाइटी सन्1890), 'द डॉक्ट्रिन ऑफ ट्रांसमिग्रेशन' (बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी सन् 1893), 'अ तिबेटन-इंग्लिश डिक्शनरी विथ संस्कृत सिनॉनिम्स'(सन् 1902), 'जर्नी टू ल्हासा एंड सेंट्रल तिबेट'(लंदन से प्रकाशित सन् 1902), 'एन इंट्रोडक्शन टु दी ग्रामर ऑफ दी तिबेटन लैंगुएज'(सन् 1915) आदि महत्वपूर्ण हैं।[89] इन रचनाओं के नाम को पढ़कर इनकी परवर्ती बांग्ला और हिंदी साहित्य पर क्या प्रेरणा रही होगी यह पता लगाया जा सकता है। लाह्सा जैसे दुर्गम स्थान पर दो बार जाना और वहाँ से बौद्ध-रचनाओं को संग्रह कर उन्हें तत्कालीन लोकप्रिय प्रेसों से छपवाना कोई छोटा काम नहीं हो सकता और तब जब यातायात के कोई अच्छे साधन भी उपलब्ध नहीं थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन को इनके जैसे खोजियों से प्रेरणा अवश्य मिली होगी।

---

[87] जर्मान के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. ग्रुएनवेडेल साहेब ने 1914 ई. में जर्मनी भाषा में सिद्ध तारानाथ की रचना को स्थान दिया था- 'The Mine of Precious Stone(Edelstein Mine)', जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद 1944 ई. में *'Mystic tales of Lama Taranath'* नाम से प्रकाशित हुआ।

[88] शरतचंद्र दास पर विकिपीडिया से विवरण

[89] वही

इसके बाद सिद्ध साहित्य की खोज में एक युगांतकारी क़दम बंगाल के ही यशस्वी खोजी महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री (1853-1931) ने रखे, जिसने पूरे इतिहास की धारा को ही बदलकर रख दिया। शास्त्री जी 1897-98 में दो-दो बार नेपाल गए थे। जिसमें उन्हें 'डाकार्नव', 'सुभाषित संग्रह' तथा 'दोहाकोश पंजिका' जैसे कुछ दुर्लभ ग्रंथ प्राप्त हुए। शास्त्रीजी तीसरी बार सन् 1907 में नेपाल गए। उन्हें वहाँ के 'नेपाल दरबार पुस्तकालय' से 50 गीतिकाओं की एक पोथी प्राप्त हुई, जिसका नाम 'चर्यागीतिकोष' था, जिसे उन्होंने 'चर्याचयविनिश्चय' शीर्षक दिया था। उन्होंने अपनी पुस्तक के मुखबंध में लिखा हैः

"कीर्तन की तरह इसमें कई गान मिले। गानों का नाम चर्यापद है। एक और पुस्तक मिली- 'दोहाकोष'- ग्रंथकार का नाम सरोरुह वज्र, जिसकी टीका संस्कृत में है और टीकाकार का नाम अद्वयवज्र है। एक और पोथी मिली-'दोहाकोष', ग्रंथकार का नाम कृष्णाचार्य है- इसकी भी एक संस्कृत टीका है।"[90]

वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने 1916 ई. में 'बंगीय साहित्य परिषद्' की तरफ से उस पोथी का प्रकाशन करवाया, जिसके चार अध्याय थे- 'चर्याचय विनिश्चय', 'सरोरुह वज्रेर दोहाकोष', 'कृष्णाचार्य दोहाकोष', 'डाकार्नव'। उसकी भूमिका उन्होंने स्वयं लिखी और उसका शीर्षक रखा- 'हजार बर्छेरेर पुरान बांग्ला भाषार: बौद्धगान ओ दोहा'। ये उस सन् 1916 की बात है, जिसके दो वर्ष पूर्व ही हिंदी में मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' नामक इतिहास लिख लिया था और रामचंद्र शुक्ल के द्वारा हिंदी का पहला मुकम्मल इतिहास ग्रंथ का प्रकाशन 13 साल बाद यानी सन् 1929 को होने वाला था।

[90] शाह रणजीत, *सहज सिद्धः चर्यागीत विमर्शः आरंभिका*, पृ- 6

शास्त्री जी ने शीर्षक में ही यह घोषणा कर दी कि यह जो ग्रंथ छप रहा है, वह हज़ार वर्ष पुरानी बांग्ला में लिखा गया है। इसका यही अर्थ बनता था कि उसके कवि बांग्ला के ही होंगे। ग्रंथ के भीतर यथा संभव उन्होंने उन कवियों को बांग्ला के सिद्ध करने की कोशिश की।[91] उन 50 कविता- गुच्छ में एक कवि 'सरोरुह वज्र' नाम से सरहपा भी थे, जिनके चार गीत उसमें संगृहीत थे, साथ ही अलग से शास्त्री जी ने एक अध्याय और भी रखा था- **'सरोजवज्रेर बांग्ला दोहाकोश: अद्वयवज्रेर संस्कृत टीका पर'**[92](सरोज वज्र का दूसरा नाम सरहपा है)जिसमें अद्वयवज्र ने ओड़िशा के आराध्य जगन्नाथ की स्तुति करते हुए टीका का आरंभ किया है।[93]यह सरहपा का पहला व्यापक जिक्र था। उस ग्रंथ में आए सिद्ध कवि कहाँ के थे, उनकी भाषा क्या थी, उन्होंने कहाँ पर अपने जीवन बिताए थे,सभी बातों पर उन्होंने अपने व्यक्तिगत-मत रखे। इस पुस्तक में आए हर एक अध्याय अलग-अलग समय में लिखे गए हैं। 'चर्याचयविनिश्चय' मूलतः एक टीका पोथी थी, जिसमें गीत भी संगृहीत हैं। इनमें संगृहीत पंक्तियों के टीकाकार का नाम मुनिदत्त है। इसके संबंध में रणजीत साहा जी ने लिखा है-

"अधिकांश चर्यागीतियों में रचयिता का नामोल्लेख है- इसे भणिता भी कह सकते हैं। कुछ चर्यायों में इनके नाम नहीं भी है,लेकिन पोथी के लिपिकारों अथवा अनुलिपिकारों ने संबंध चर्याकार का नाम और विभिन्न रागों के उल्लेख के साथ किया है। टीकाकारों और लिपिकारों के नामों में कभी-कभी एकरूपता की कमी खलती है। मूल में चर्याकार का नाम टीका में अन्य रूप एवं वर्तनी के साथ मिलता है। इसी प्रकार किसी-किसी चर्या में गुरु का नाम स्पष्ट तौरपर और ससम्मान उल्लेख हैं।"[94]

---

[91] मानसिंह मायाधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ- 63-64

[92] शास्त्री हरप्रसाद, *बौद्धगान ओ दोहा*, पृ-65

[93] वही, नमस्कृत्य जगन्नाथन्....पृ-65

[94] शाह रणजीत, *सहज सिद्ध-चर्यागीति विमर्श*, पृ- 8

अर्थात् यह पोथी चर्यागीतिकारों के व्यक्तित्व को समझने के लिए अत्यंत ही संदिग्ध है। कारण यह है कि इसकी पंक्तियाँ मुख से निस्सृत पहले हुई हैं और लिखी बाद में गई हैं। इतिहास साक्षी है कि किसी भी संप्रदाय या परंपरा में गुरु अपने उपदेशों को स्वयं लिपिबद्ध नहीं करते थे, अपितु उनके शिष्य के कर कमलों में यह कार्य संपादित होता था, जिस कारण उनमें मौलिकता का अभाव रह जाता था। कबीर और धर्मदास इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सिद्धों में भी यही परंपरा बरकरार थी। इसी कारण उनमें प्रक्षिप्त चीज़ें जुड़ गई हैं, जिससे इतिहासकारों की समस्या अधिक बढ़ गई है। 'बौद्धगान ओ दोहा' में आईं कविताओं की ऐतिहासिकता के बारे में प्रसिद्ध इतिहासकार सुकुमार सेन ने लिखा है-

"मुनिदत्त की टीका का रचनाकाल पोथी लेखन के वर्षों बाद का है। पोथी की समालोचना करते हुए मेरी धारणा यह है कि पोथी का लिपिकाल पंद्रहवीं सदी का है। ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। (इसी तरह) भाषा के आधार पर मेरा अनुमान है कि चर्यागीतियों के रचनाकाल दसवीं से बारहवीं सदी के बीच का है।"[95] "'चर्यागीतिकोष' की टीकाएँ असंख्य लिखी गई हैं, जैसे- पंडित दीपंकर कृत 'चर्यागीतिवृत्ति' जिसकी आर्यदेव के 'चर्यमेलायन प्रदीप नाम' से इसकी वृति लिखी और इसकी पंजिका आचार्य शाक्यमित्र ने लिखी। महायोगी अज(आर्यदेव?) ने 'महासुखगीति' और 'देहाकोष' की व्याख्या अर्थ 'प्रदीप' नाम से की और उसका तिब्बती में अनुवाद भी किया। शीलचारी ने भी चर्यागीतिकोष का अनुवाद तिब्बती में किया है। मुनिदत्त की चर्यागीतिकोषवृत्ति का अनुवाद कीर्तिचंद्र ने किया है।"[96](ये समस्त अनुवाद चौदहवीं से सोलहवीं सदी के बीच किए गए, जो सरहपा के जीवनकाल के काफी वर्ष बाद ठहरते हैं) जिस कारण किसी एक को सरहपा की जीवनी के निमित्त प्रमाणिकता में लेना भूल होगी। अब जहाँ तक रही 'दोहाकोश'(दोहाकोष)

[95]सेन सुकुमार, चर्यागीति पदावली, पृ- 19, शाह रणजीत, *सहज सिद्ध- चर्यागीति विमर्श*, पृ- 8
[96] वही

की बात इसकी भी काफी अलग-अलग प्रतियाँ मिलती हैं, जिन्हें अलग-अलग विद्वानों ने संपादित किया है।

इस तरह सरहपा अभी भी रहस्यमय बने हुए हैं। उनका जन्म, जीवन, कर्म, रचनाएँ ऐसी समस्त बातें अब भी अधूरी और रहस्यमय हैं। किंतु फिर भी इससे उनका महत्व कम नहीं हो जाता। वे महान् हैं, सिद्ध परंपरा में उनकी प्रसिद्धि यह प्रमाणित करती है। शुद्धतावादी इतिहासकारों ने उनपर तथा उनकी परंपरा पर आरोप ही आरोप लगाए हैं। आंचलिकतावादी विद्वानों ने उनको अंचल विशेष में समेटने की कोशिश की है। कफी अम्नायों-मठों-संप्रदायों ने समय के साथ उनकी विचार-परंपरा को विकृत करने की भी कोशिश की है। लेकिन इन सबके बावजूद उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता है। हिंदी की ही बात करें तो, उनको और उनकी परंपरा को विद्वानों ने उतना तवज्जो नहीं दिया है, जितना उन्हें मिलना चाहिए। यह महसूस होता है, प्राप्त रचनाओं की सही व्याख्या अभी तक नहीं हो पाई है। अतः इन सब पर विचार करना अभी बाक़ी है। आगे हिंदी के ख्यात इतिहासकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भदंत राहुल सांकृत्यायन तथा धर्मवीर भारती जी ने सरहपा को किस दृष्टि से देखा है, उसकी व्यापकता और तटस्थता से विचार किया जाएगा।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि और सिद्ध सरहपा

हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में हिंदी का पहला मुकम्मल इतिहास-

20 वीं शती की शुरुआत में हिंदी साहित्य के इतिहास ने तत्कालीन तथाकथित हिंदी क्षेत्र से बाहर, अपने क़दम रखे नहीं थे। हिंदी साहित्य में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि विधाएँ तो समृद्ध होने लगी थीं और भारत भर में उसकी लोकप्रियता भी बढ़ गई थी, किंतु इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में वह अब भी शिथिल बना हुआ था। साहित्य के इतिहास के बिना साहित्य दुर्बल और दृष्टिहीन होता है। खैरियत है कि जल्द ही रामचंद्र शुक्ल ने एक इतिहास लिखकर हिंदी साहित्येतिहास को समृद्ध कर दिया। उस ग्रंथ की विशेषता यह थी कि आज तक हिंदी साहित्य में जो भी चर्चा होती है, रामचंद्र

शुक्ल के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के बिना वह अधूरी है। उनको नकारते हुए भी उनको ग्रहण करना पड़ता है। बच्चन सिंह जी ने यही बात 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' की भूमिका में लिखा है-

"...नए इतिहास के लिए शुक्लजी का इतिहास एक चुनौती है। उनसे बहुत कुछ सीखने के साथ ही उनके ऐतिहासिक पैटर्न को तोड़ना होगा। जब रचनात्मक साहित्य पुराने पैटर्न को तोड़कर नया बनता है, तब साहित्य के इतिहास पर बह क्यों न लागू हो? नया पैटर्न बनाना ख़तरे से खाली नहीं है। नया इतिहास लिखने के लिए यह ख़तरा उठाना होगा।" [97]

शुक्ल का इतिहास हिंदी साहित्य जगत् को सौभाग्य से प्राप्त हुआ था। 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने, जिसका नेतृत्व बाबू श्याम सुंदर दास कर रहे थे, सन् 1922 ई. को एक बड़े प्रकल्प पर काम करना शुरू किया (यद्यपि इसकी परिकल्पना सन् 1993 से 'नागरी प्रचारिणी सभा' बनने से ही शुरू हो गई थी) जिसका काम था, हिंदी के लिए एक मानक शब्दकोश तैयार करना। इस शुभकाम में बालकृष्ण भट्ट, लाला भगवानदीन, अमीर सिंह, जगमोहन वर्मा, रामचंद्र वर्मा जैसे विद्वान भी शामिल थे। इसके अंतर्गत सबसे महान् काम हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ के रूप में आचार्य शुक्ल के करकमलों से उनके अथक प्रयास से संपन्न हुआ। इस इतिहास ग्रंथ के बनने के पीछे के कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं-

"पाँच या छह वर्ष हुए छात्रों के उपयोग के लिए मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे, जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढांचा खड़ा किया गया था। 'हिंदी शब्द सागर' के समाप्त हो जाने पर उसकी

---

[97] सिंह बच्चन, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, पृ- vii

भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया; अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा।"[98]

शुक्ल जी ने जो नोट्स तैयार किए थे, उनको परिवर्द्धित रूप प्रदान कर के इतिहास ग्रंथ का प्रणयन किया। आचार्य द्विवेदी जी ने शुक्ल कृत इतिहास के संबंध में लिखा हैः-

"हिंदी साहित्य का सचमुच ही क्रमबद्ध इतिहास पं. रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी शब्दसागर की भूमिका' के रूप में सन् 1929 ई. में प्रस्तुत किया। ... शुक्लजी ने प्रथम बार हिंदी साहित्य के इतिहास को कविवृत्तसंग्रह की पिटारी से बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्वासोच्छवास का स्पंदन सुनाई पड़ा। पहली बार वह जीवंत मानव विचार के गतिशील प्रवाह के रूप में दिखाई पड़ा। त्रुटियाँ इसमें भी हैं(विचारणीय)। 'वृत्तसंग्रह की परंपरा उसमें समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर केवल 'शिक्षित समझी जाने वाली जनता' की प्रवृत्तियों के परिवर्तन -विवर्तन के निर्देशक के रूप में देखा गया है।"[99]

'हिंदी शब्द सागर' नामक वृहद् शब्दकोश की भूमिका आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखी, जो हिंदी साहित्य की ख़ुशकिस्मती से उसके इतिहास का आधार स्तंभ बना। आगे के इतिहासकारों, आलोचकों, पाठकों ने या तो शुक्ल का समर्थन किया या फिर उनकी आलोचना की, जिससे नवीन ऐतिहासिक दृष्टि विकसित हुई।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की शुद्धतावादी दृष्टि और सिद्ध सरहपा-

शुक्ल जी ने अलग से सरहपा पर कुछ विशेष दृष्टि नहीं डाली है, उन्हें 'अपभ्रंश काव्य' अध्याय में सिद्धों के भीतर रखकर विवरण प्रस्तुत किया है। उससे सरहपा सम्बंधी उनकी धारणाओं को समझा

---

[98] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ-2

[99] द्विवेदी हजारीप्रसाद, *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, पृ- 2

जा सकता है, साथ ही पुस्तक की भूमिका और वक्तव्य- सरहपा को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं, जिसमें उन्होंने सरहपा के बारे में कुछ लिखा तो नहीं, किंतु अपने इतिहास दर्शन के बारे में बताते हुए, सरहपा पर न कहकर भी काफी कुछ कह दिया है।

शुक्ल शुद्धतावादी इतिहासकार हैं।[100] तंत्र, रहस्य आदि तत्व साहित्य में आना उनको पसंद नहीं था। वे लिखते हैं, **"सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुखी साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए, जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ।"**[101]

डॉ. धर्मवीर भारती ने 'सिद्ध साहित्य' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मान्यताओं तथा सिद्धों संबंधित शुक्ल की दृष्टि पर विचार करते हुए निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं-

"आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपनी उग्र शुद्धतावादी (प्योरिटन) दृष्टि के लिए प्रख्यात थे। उन्होंने इन्हीं आचार्यों विशेषतया भट्टाचार्य महोदय के मत का आश्रय लेते हुए, अपने इतिहास में इन सिद्धों के साहित्य को बौद्ध धर्म की विकृत और अस्वस्थ अवस्था का साहित्य बताया है और इन सिद्धों पर यह दोषारोपण किया है कि उन्होंने इस बौद्ध वामाचार को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया और न केवल स्वतः वे इस पाप पंक में गिरे वरन जनता को भी उसमें गिराना चाहा, अतः देशी भाषा में रचना की ताकि जनता पर भी उनका संस्कार पड़ सके।"[102]

---

[100] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य,* पृ-51

[101] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास,* पृ-33

[102] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य,* पृ- 52

धर्मवीर जी ने शुक्ल के सरहपा संबंधित तथ्य को भट्टाचार्य जी अनुकरण मात्र माना है, जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है-

"आश्चर्य की बात है कि शुक्ल जी ने जिनको आधार बनाकर (भट्टाचार्य को) सिद्धों की विवेचना की है, उनका भी यही मत है कि सिद्ध तंत्राचारियों की साधना विकृत, रोगग्रस्त, अस्वस्थ और पतनोन्मुख है।"[103]

<u>किसी साहित्यकार की महानता महान् इतिहासकार के दर्ज़े पर निर्भर है-</u>

शुक्ल ने पहली बार साहित्य के इतिहास को विधेयवादी दृष्टि से देखा। उनका मानना था कि प्रत्येक देश का साहित्य उसकी जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है। चित्तवृत्ति के बदलाव से साहित्य की गति में भी परिवर्तन होता है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास को सिर्फ कवियों के अनुसार नहीं अपितु जनता की चित्तवृत्ति तथा उसपर पड़ने वाले राजनीतिक प्रभाव, आर्थिक संरचना तथा धार्मिक परिस्थितियों आदि के अनुसार हुए सामाजिक बदलाव तथा उन बदलावों का साहित्य पर क्या महत्व रहा, उस दृष्टि को सामने रखकर इतिहास के स्वरूप का निर्माण किया। यह एकदम नवीन दर्शन था। किंतु जैसे कोई वस्तु, चंद्रमा की तरह कितने ही महान् क्यों न हो जाए, उसमें कुछ कलंक रूपी कमियाँ अवश्य रहती हैं, ठीक उसी तरह शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि में भी कुछ त्रुटियाँ रह गईं। इसका आभास बौद्ध-सिद्धों पर दिए गए, उनके विचारों पर ही मिल जाता है।

पहले ही बात हो गई है कि सिद्धों की चर्चा बंगाल में सन् 1916 से पहले से ही शुरू हो गई थी। आचार्य शुक्ल को हिंदी समेत बांगला और अंग्रेज़ी साहित्य में हो रही हलचल की जानकारी अवश्य रहती होगी, तभी तो उन्होंने बौद्ध-सिद्धों का चित्रण बांग्ला के विद्वान् हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान ओ दोहा' तथा विनयतोष भट्टाचार्य के 'बुद्धिस्ट एस्टोरिज़म' को संदर्भ में लिए हुए किया था। दु:ख इस बात का है कि उनको उनमें कवित्व नजर नहीं आया। उनके काल विभाजन की कसौटी 'शिक्षित जनता'

[103] वही, पृ- 51

की प्रवृत्ति के भीतर बंध गई थी, जिसमें अशिक्षित जनता के लिए कोई स्थान बचा नहीं था! उन्होंने प्रथम संस्करण के वक्तव्य में ही लिखा है-

"शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य-स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्य-धारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल विभाजन के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।"[104]

उनकी धारणा थी, शिक्षित जनता की प्रवृत्तियाँ ही साहित्य निर्माण कर सकती हैं और साहित्य की धारा को बदल सकती हैं। उनकी दृष्टि में कवि बनने की कसौटी शायद शिक्षित होने के ऊपर निर्भर थी या फिर वही कवि हो सकता है, जो शिक्षित जनता को प्रभावित कर सकता था। इसी कारण आगे कबीर भी उनके सामने गौण हो गए।

उनके विचारों से भारतीय साहित्य जगत् में सिद्धों की काव्यधारा का अभ्युदय होना कोई महान् घटना नहीं थी। यह सत्य है कि तब तक उनको पर्याप्त सामग्री नहीं मिल पाई थी, जिस कारण वे सिद्धों का सम्यक् निरूपण न कर सके। उन्होंने अपनी असमर्थता को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है- **"साहित्य के इतिहास लिखने के लिए जितनी अधिक सामग्री मैं ज़रूरी समझता था, उतनी तो उस अवधि के भीतर इकट्ठी न हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान रखकर कार्य पूरा किया गया।"**[105]उन्होंने इतिहास लेखन का बेशक सिर्फ कार्य ही पूरा नहीं किया, हिंदी साहित्य के सुसमृद्ध इतिहास लेखन की परंपरा ही शुरू कर डाली, किंतु सिद्धों के मामले में उनकी चुप्पी ने हिंदी साहित्य के इतिहास की धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है, जिसमें सिद्ध आगे भी लगभग गौण ठहराए गए।

---

104 शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, प्रथम संस्करण की भूमिका, पृ-5

105 वही

शुक्ल महान् इतिहासकार हैं। उनसे भावी इतिहासकार तथा पाठक प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ में जो कुछ भी लिख लिया, वे सब आगे के पाठकों के लिए अनुकरणीय हैं। उन्होंने अगर किसी कवि को महान् कह दिया तो, वह महान् हो जाता है, वह लोकादृत हो जाता है और जिस कवि या युग को उन्होंने अनदेखा कर दिया, पाठकों की दृष्टि में वह अप्रासंगिक रह जाता है। ई. एच. कार ने अपनी कृति 'इतिहास क्या है' में ठीक ही लिखा है कि तथ्य मछलियों की तरह होते हैं, इतिहासकार अपनी स्व-प्रवृत्ति के अनुसार उनका चयन करता हैः **"ये सब तथ्य मछुआरे की पटिया पर पड़ी मछलियों की तरह होते हैं। इतिहासकार उन्हें इकट्ठा करता है, घर ले जाता है, पकाता है और अपनी पसंद की शैली में परोस देता है।"[106]** चाहे कोई घटना किसी युग के लिए कितनी भी प्रासंगिक क्यों न हो, इतिहास में उसकी प्रसिद्धि, महान् इतिहासकारों के चयन पर निर्भर है। प्रसिद्ध आलोचक और इतिहासकार किसी लेखक को आसमान तक पहुँचा भी सकते हैं और किसी को रसातल में दफना भी सकते हैं, क्योंकि रचनाओं और रचनाकारों को समाज तक पहुँचाने का कार्य यही इतिहासकार और आलोचक करते हैं। यही कारण है कि सिद्ध सरहपा जैसे महान् कवि पाठकों में आज उतने प्रतिष्ठित नहीं हो पाए हैं, क्योंकि शुक्ल जैसे महान् इतिहासकारों ने उनके प्रति उदासीनता दिखाई है। यह बात सच है कि पहले संस्करण में उनके पास सिद्धों और उनमें भी सरहपा पर तथ्य बहुत कम उपलब्ध होंगे, जैसा कि उन्होंने इस बात का जिक्र किया भी है। **किंतु ग्रंथ के दूसरे संस्करण तक आते-आते तो सरहपा और सिद्धों संबंधित कई खोजें हो चुकी थीं, तथापि दूसरे संस्करण में भी उनका चुप रहना सही नहीं लगता।** नवीन संस्करण सिर्फ व्याकरणिक गलतियों को नहीं सुधारता, विचारों में भी सुधार की गुंजाइश रखता है। अतः दूसरे संस्करण में भी सरहपा और सिद्धों के विषय में चुप रहकर, शुक्ल जी ने कहीं न कहीं भावी इतिहास-पाठकों के मन में सरहपा और सिद्धों के लिए एक

---

[106] कार ई. एच, *इतिहास क्या है*, पृ-3

हेय भावना जगाई है, जो आज तक नहीं मिटती है। यही कारण है कि सरहपा आज वस्तुनिष्ठ प्रश्न बनकर रह गए हैं।

हाँ, द्वितीय संस्करण की भूमिका में उन्होंने बौद्ध-सिद्धों की चर्चा अवश्य की है, क्योंकि कबीर के बनने के पिछे इन काव्यत्व-हीन बौद्ध-सिद्धों का बड़ा योगदान रहा था- **"आदिकाल के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन, यह दिखाने के लिए करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्तित निर्गुण संतमत के प्रचार के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने के लिए भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य कोटि में नहीं आतीं और युगधारा काव्य या साहित्य की कोई नई धारा नहीं मानी जा सकती।"**[107] उन्होंने सीधे तौर पर लिख दिया कि सिद्धों और नाथों की रचनाएँ साहित्य की कोटि में नहीं आतीं। लेकिन 'लोक' ही युगधारा को बदलता है और युगधारा साहित्य को प्रभावित करती है। अतः युगधारा साहित्य के इतिहास लेखन में मुख्य भूमिका अदा करती है। उन्होंने 'सिद्धों की रचनाओं का कबीर पर प्रभाव' को सिर्फ युगधारा कहकर उनको नकार दिया है और पूरे इतिहास में जहाँ भी बन पड़ा है, सिद्धों को नकारात्मक उदाहरण की तरह पेश किया है। एक युग के कवियों का समवेत प्रभाव अगर दूसरे युग के कवियों पर पड़ता है और उससे अगर एक नवीन काव्यधारा प्रस्फुटित होने में सहायता मिलती है, जो पूरे साहित्य के इतिहास को पहचान प्रदान करती है, तो निश्चय ही उत्तर युग के 'काव्य-गुण' की तरह पूर्व युग का 'काव्य-गुण' भी महत्व रखता है। प्रेमचंद की रचानाओं के मूल्यांकन के वक्त किशोरी लाल गोस्वामी आदि की रचनाओं के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। जो इतिहासकार-आलोचक कबीर को कवि कहने में संकोच करते हैं**(भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभाव**

[107] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, दो बातें

और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, उसमें संदेह नहीं।)[108] उनसे सिद्धों और सरहपा प्रति श्रद्धा की आशा कैसे रखी जा सकती है।

हाँ, सिद्धों की वाणियाँ कभी-कभी अस्पष्ट और अर्थ-ग्राह्यता में उतनी सरल नहीं थीं। हाँ, उनमें अन्य कवियों की तरह चमत्कार-काव्यांगों का इस्तेमाल कम हुआ है। हाँ, उनमें रहस्य अधिक था। कभी-कभी वे अभिधार्थ में अश्लील भी बन गए हैं, लेकिन उन पंक्तियों के लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कुछ और प्रतिपादित करते हैं। हाँ, उन्होंने अपनी वाणियों को शुद्ध हिंदी भाषा में नहीं कहा है। किंतु तथापि वे आदिकाल के अंतर्गत आते तो हैं। उनमें तत्कालीन युग की उपस्थिति अवश्य ही अधिक जीवंत दिखती है। वे प्रगतिशील हैं क्योंकि उन्होंने पुरातन दकियानूसी सोच पर प्रहार किया और जिस राह का निर्माण किया, उसपर आगे के कवियों ने चलकर अपने आप को 'लोक' में प्रतिष्ठित किया। इतनी सारी विशेषताओं के बावजूद अगर कुछ कमियों के लिए पूरे समूह को ही नकारा जाए तो यह उनके साथ ज़्यादती ही होगी। ई. एच. कार ने लिखा है, कि किसी इतिहास को पढ़ने से पहले उसे लिखने वाले इतिहासकार को पढ़ो।

"... इतिहास का अध्ययन करने से पहले इतिहासकार का अध्ययन करो। अब मैं कहना चाहूंगा, इतिहासकार का अध्ययन करने से पहले उसके ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिवेश का अध्ययन करो। इतिहासकार एक व्यक्ति के रूप में इतिहास और समाज का उत्पाद होता है और इतिहास के विद्यार्थी को उसे इसी दोहरी रोशनी में देखनी चाहिए।"[109] यानी कभी-कभी इतिहासकार का व्यक्तित्व तथा उसकी रुचि इतिहास लेखन को प्रभावित करते हैं, जिन्हें वह अपने समाज तथा वर्ग से प्राप्त करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल जी की सिद्धों के प्रति दृष्टि कुछ मात्रा में व्यक्ति केंद्रित हो गई है। शुक्ल जी ने इन बौद्ध-सिद्धों की रचनाओं को महज़ धार्मिक-सांप्रदायिक

---

[108] वही, पृ- 80

[109] कार ई. एच, *इतिहास क्या है*, पृ-34

रचना की संज्ञा देकर उन पर चुप्पी बरती है, या फिर 'बुद्धिस्ट एस्टरिज़्म' का भावानुवाद,आगे इस पर तर्कों के साथ विचार किया जाएगा!

आचार्य द्विवेदी जी ने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' नामक अपनी पुस्तक में शुक्ल जी के इसी मत की प्रतिक्रिया में ठीक ही लिखा है- **"धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती।"**[110]

<u>साहित्य की 'प्रचुरता और प्रसिद्धि', साहित्य का इतिहास तथा उसमें सिद्धों समेत सरहपा को प्राप्त स्थान-</u>

उन्होंने प्रथम संस्करण के वक्तव्य में विशेष प्रकार की प्रवृत्ति और काव्य-प्रसिद्धि की बात की है। उन्होंने लिखा है- **"इस पुस्तक में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है,...पहले काल विभाग को लीजिए। जिस काल विभाग के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है, वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इसी प्रकार काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बनाया जा सकता है।...दूसरी बात है, ग्रथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जाएगी। चाहे और दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोकप्रवृति की प्रतिध्वनि है।"**[111]

प्रदत्त पंक्तियों में शुक्लजी के द्वारा कही गई बातें परोक्ष रूप से सिद्ध साहित्य और सरहपा से संबंधित हैं। पहले तो उनका मानना है कि काल विभाजन के अंतर्गत अगर विशिष्ट ग्रंथों की प्रचुरता

[110] *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*, आवरण

[111] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ- 2

दिखाई दें तो उस काल का नामकरण उन्हीं रचनाओं पर अवलंबित होगा। शायद सिद्धों-जैनों के काव्यों की प्रचुरता होने के कारण उन्होंने एक अध्याय को 'अपभ्रंश काव्य' नामकरण किया है- **"अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व-निरूपण संबंधी, जो साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कबसे हो रहा था।"**[112] अगर उनकी मंशा उन्हें आदिकाल के भीतर रखने की होती तो आदिकाल का नाम कतई 'वीरगाथा काल' न होता। ग्रंथों की प्रचुरता की दृष्टि से सिद्ध-जैनों की रचनाएँ उस काल में अधिक होंगी। प्रामाणिकता की दृष्टि से जैनों की रचनाएँ रासो आदि से आधिक प्रामाणिक होंगी। इन रचनाओं को उनके द्वारा आदिकाल के अंतर्गत न रखे जाने का कारण और क्या हो सकता है? इसका उत्तर एक और तथ्य मुहैया कराता है और वह यह है कि **जहाँ पर सिद्धों की रचनाएँ तथाकथित मध्यदेश से इतर पूर्वी भारत और नेपाल तथा तिब्बत आदि के 'लोक' में रची-बसी थीं, वहीं जैनों-नाथों की भी रचनाएँ गुजरात, राजस्थान, पंजाब आदि पश्चिमी क्षेत्र से जुड़ी हुई थीं, जो मध्यदेश से अलग क्षेत्र थे। उनमें हिंदी से अधिक अन्य भारतीय आर्य भाषाओं का पूर्व रूप विद्यमान था। तो क्या भ्रमवश उन्होंने उन रचनाओं तथा कवियों को अपने काल विभाजन में स्थान नहीं दिया? अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह भ्रम का परिणाम था या आंचलिकता व स्वयं की पसंद-नापसंद का नतीजा- क्योंकि ये कवि मध्यदेश के नहीं थे, जिसे तत्कालीन विद्वान हिंदी प्रदेश मानते थे और इतर को हिंदीतर या अहिंदी। द्रष्टव्य है कि सिद्धों-जैनों के मामले में अधिकतर नामचीन इतिहासकार आंचलिकता के मोह का संवरण नहीं कर सके हैं। क्योंकि सिद्ध पूर्वी भारत से थे, अतः शुक्ल ने इसी कारण उनपर खास दृष्टि नहीं दी है।**

---

[112] वही

आगे वे ग्रंथों की प्रसिद्धि की बात करते हैं और प्रसिद्ध रचनाओं को किसी विशेष काल की 'लोक-प्रवृत्ति' का द्योतक मानते हैं। हाँ, यह ठीक है कि प्रसिद्ध रचनाओं की प्रवृति के अनुसार ही काल विभाजन करना युक्तिसंगत है, किंतु अप्रसिद्धि के कारण प्रचुर ग्रंथराशि को किसी काल से अलग कर देना कहाँ तक युक्ति संगत है? अगर ऐसा हो तो शुक्ल जी के काल विभाजन और उनके नामकरण पर प्रश्न उठना लाजमी है। आदिकाल के अंतर्गत उन्होंने जिन वीरगाथात्मक रचनाओं को स्थान दिया है, उनमें से कुछ अप्राप्य हैं(कीर्तिपताका आदि), कुछ प्रक्षिप्त हैं(पृथ्वीराज रासो), कुछ एक अवश्य लोकप्रिय हैं, लेकिन संदिग्ध भी हैं(आल्हाखंड), लेकिन कुछ का एक-दो पंक्तियों के साथ नाम-मात्र मिलता है(हम्मीर रासो), फिर भी उनको आदिकाल(समय के अनुसार) में स्थान देना और उनके आधार पर उस काल को वीरगाथा काल (प्रवृत्ति के आधार पर) कहना युक्तियुक्त नहीं है। इस पर विद्वानों ने सवाल भी उठाए हैं। अगर प्रसिद्धि की ही बात करें तो सिद्धों तथा उनमें सरहपा आदिकाल के अंतर्गत जितने प्रसिद्ध थे, उस काल में कोई और उनके समकक्ष नहीं हैं(क्योंकि जहाँ पर अन्य कवि केवल किसी क्षेत्र विशेष से संबंधित थे वहीं सरहपा अंतरराष्ट्रीय कवि थे।) सरहपा की प्रसिद्धि बंगाल, बिहार, ओड़िशा,असम, नेपाल तथा तिब्बत तक परिव्याप्त थी। जैसे 'आल्हा' उत्तर भारत में लोकप्रिय है, वैसे ही 'चर्यापद' पूर्वीभारत से लेकर नेपाल-तिब्बत तक प्रसिद्ध हैं**(शुक्ल जी ने ही लिखा है-'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं, जिसका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है[113])**। आगे के गीत संबंधी छंद इन्हीं से विकसित और अनुप्राणित हैं। गैयता की दृष्टि से जयदेव, विद्यापति, सूर, मीरा आदि अखिल भारतीय कवि सरहपा की परंपरा से जुड़ते हैं। सरहपा की गुरु संबंधी बातों का जिक्र राहुल जी ने 'दोहाकोश' में किया है कि कैसे आज तक नेपाल तथा तिब्बत में बौद्ध त्रिमंत्र के साथ 'गुरुं शरणं गच्छामि' को बड़ी श्रद्धा से उच्चरित किया जाता है।[114]सरहपा की गुरु संबंधी धारणाएँ सिर्फ हिंदी ही

---

113 वही, पृ-7

114 सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश,* पृ- 6

नहीं पूर्वी भारत की भाषाओं के भक्तिकाल में मुख्य प्रेरणा बनीं हैं। हिंदी तथा ओड़िया भाषा-साहित्य की प्रगतिशीलता (भारतीय प्रगतिशीलता के परिप्रेक्ष में) जो भक्तिकाल के रास्ते से होते हुए कहीं न कहीं आधुनिककाल तक परिव्याप्त हुई, उसमें सरहपा का योगदान अतुलनीय है। सरहपा ने अपने युग का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है,जो उस युग के ऐतिहासिक परिस्थिति को बयां करता है। इसके विपरीत रासो के कवियों ने जिनको शुक्ल जी ने आदिकाल के अंतर्गत स्थान दिया है, यथार्थ से इतर कल्पना, अतिशयोक्ति, चाटुकारिता को अधिक स्थान दिया है। हम उसी को महान् कवि कहेंगे, जो अपने युग की यथार्थ स्थितियों का सच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करता है। अगर इतनी सारी बातें किसी कवि या किन्हीं रचनाओं की प्रसिद्धि का प्रमाण नहीं दे रहीं तो फिर और कौन देगा? सरहपा रासो-ग्रंथकारों के 'यथार्थ के चित्रण' के मामले में कई अधिक परिपक्व हैं। सरहपा की कविताएँ तो 'हम्मीररासो' आदि की चंद पंक्तियों से अधिक महत्त्व रखती हैं (चलिअ वीर हम्मीर पाअ भर मेईणि कंपई... क्या यह अतिशयोक्ति नहीं है)। दोहा, चौपाई और पद जैसे छंद को तो सरहपा ने भी इस्तेमाल किया था। सरहपा की उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ आदि मनोरम हैं[115] यद्यपि सरहपा सिद्ध थे तथापि उनकी कविताओं में काव्यत्व के अधिकांश गुण अवश्य ही मौज़ूद थे। तथापि शुक्ल जी के द्वारा सरहपा को गौण दृष्टि से देखना विचलित करता है।

<u>आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अपभ्रंश काव्य संबंधित दृष्टि और सिद्ध सरहपा-</u>

दरअसल शुक्लजी की दृष्टि पूरे अपभ्रंश काव्य के लिए उदार नहीं थी। उन्होंने आदिकाल की पूर्वपीठिका से जुड़ी अधिकतर बातों से उतनी उदारता नहीं दिखाई है, जो स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने भी अन्य विद्वानों की तरह अपभ्रंश को प्राकृत का बिगड़ा हुआ रूप कहा।

"जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे गाथा या गाहा कहने से प्राकृत का बोध होता था, वैसे ही पीछे

---

[115] वही, पृ- 22-23

दोहा या दुहा कहने से लोक प्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा। इस पुरानी प्रचलित काव्यभाषा में नीति, शृंगार, वीर आदि की कविताएँ तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य ने अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिए भी इसमें उपदेश आदि की रचना करते थे। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया, वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी साहित्य से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देश भाषा ही कहलाती रही। जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।"[116]

शुक्ल जी ने आगे अपभ्रंश के नामकरण का इतिहास प्रस्तुत किया है, जिसमें अधिकतर संस्कृत के विद्वानों ने तत्कालीन भाषा को 'अपभ्रंश' संज्ञा दी है। दरअसल भाषा के मामले में कुछ भी नहीं बिगड़ता, बल्कि उसका साधारणीकरण होता है। वह आगे बढ़ती है, अन्य से जुड़कर समृद्ध होती है। उसमें उच्चरित वाणियाँ लोक साहित्यकोश को अधिकाधिक श्रीवान् करती हैं, जिससे आगे का साहित्य आश्रित और अवलंबित है। आदिकाल के मामले में सरहपा ने तथा उनके काल के अन्य कवियों ने जिस भाषा का इस्तेमाल किया है वह बिगड़ी हुई कतई नहीं हो सकती। द्रष्टव्य है कि जिन कवियों ने तत्कालीन भाषा का इस्तेमाल किया है, उनमें से किसी ने भी उसे भ्रष्ट या अपभ्रंश की संज्ञा नहीं दी हैं (जैसे प्रयोगवाद का नामकरण अज्ञेय आदि ने नहीं किया है, जबकि वे उसके कवि हैं।'प्रयोगवाद' संज्ञा अपभ्रंश संज्ञा की तरह ईर्ष्या-आश्रित आलोचना पर आधारित है। ठीक उसी तरह हीनयान संज्ञा पर भी दृष्टि डाली जा सकती है, जिसे उनके विपरीत वालों ने प्रतिक्रिया स्वरूप दी है।) ये तो उन लोगों का काम होता है, जिन्हें ये कवि रास नहीं आते। इनको नीचा दिखाने के लिए ये उच्च वर्ग की सोची-समझी चाल है। कोई भी कवि क्यों अपनी भाषा को भ्रष्ट कहेगा, जिससे उसकी रोजी-रोटी चलती है, जिससे उसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कीर्ति आदि की प्राप्ति होती है। ये तो वे आभिजात्य आचार्य हैं, जिन्होंने

---

[116] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, प्रकरण 2, पृ- 6

अपनी भाषा के इतर सभी भाषाओं को विकृत नाम दिए हैं। इस संबंध में राहुल जी की निम्न उक्ति महत्वपूर्ण है-

“आपने सुन रखा होगा कि इस भाषा को अपभ्रंश कहते है, शायद इससे आप समझने लगे होंगे कि तब तो यह हिंदी से ज़रूर अलग भाषा होगी। लेकिन नाम पर मत जाइये, इसका दूसरा नाम देशी भाषा है, अपभ्रंश इसे इसलिए कहते हैं, कि इसमें संस्कृत शब्द के रूप भ्रष्ट नहीं अपभ्रष्ट- बहुत ही भ्रष्ट हैं, इसलिए संस्कृत के पंडितों को ये जाति भ्रष्ट शब्द बहुत ही बुरे लगते होंगे। लेकिन शब्दों का रूप बदलते-बदलते नया रूप लेना- अपभ्रष्ट होना- दूषण नहीं, भूषण है। इससे शब्द के उच्चारण में ही नहीं, अर्थ में भी अधिक कोमलता और मार्मिकता आती है। ‘माता’ संस्कृत शब्द है। उसका ‘मातु’, ‘माई’ और ‘मावो’ तक पहुँच जाना अधिक माधुर्य बनने के लिए था। खेद है यहाँ भी कितने ‘नीम-हक़ीमों’ ने शुद्ध संस्कृत माता को ही नहीं लिया, बल्कि उसमें ‘जी’ लगाकर ‘माताजी’ बना उसके ऐतिहासिक माधुर्य को ही नष्ट कर डाला। अतः यह निश्चित है कि अपभ्रंश होना दूषण नहीं भूषण है।”[117]

अतः सरहपा जैसे कवियों की भाषा अपभ्रंश (नीम-हक़ीमों की दृष्टि से) नहीं है, न ही बिगड़ी हुई है। यह उस भाषा की ही अपार शक्ति है कि जिसने कबीर आदि संतों को अपनी वाणी कहने को प्रेरणा दी। जिस भाषा से कबीर आदि ने कई पारिभाषिक शब्द ग्रहण किए। वह लोक भाषा है, जो लोक में ही पली बढ़ी हैं, समय के साथ भूगोल की सीमाओं को लांघी हैं, जो आज भी हूबहू लोक में व्यवहृत होती है :- “ओड़िया में- तइला, बखाणई, जाणई, सिआल, बेंग, रे(कारक), इ ‘भणइ’ (‘है’ के अर्थ में ओड़िया में) आदि तथा ठेठ हिंदी में- पइठ, बेंग आदि।” यह गौरतलब है कि सरहपा ने अपनी रचनाओं में एक भी जगह अपभ्रंश शब्द का इस्तेमाल नहीं किया है, अतः यद्यपि आज यह शब्द रूढ़

---

117 सांकृत्यायन राहुल, *हिंदी काव्यधारा,* पृ-5

सा हो गया है, किंतु इसे अपभ्रंश कहना ग़लत है। भारतीय भाषा इतिहास में यह पल विरल है, जिससे हिंदी समेत अन्य आधुनिक आर्य-भाषा-समूह का जन्म संभव हुआ था। अधिकतर पाठक उनकी भाषा को संधा भाषा कहते हैं। संधा दरअसल किसी विशिष्ट भाषा का नाम नहीं है, अपितु एक शैली तथा काल विशेष में आदृत भाषा है, जिसमें श्लेषादि अलंकारों का इस्तेमाल करके अपनी साधना की विवरणी को गुप्त रखा जाता था। संधा शैली को काव्य रचना में इस्तेमाल करना आसान नहीं है। उसमें भी रचनाशीलता के गुण का होना अत्यावश्यक है। इसी के आगे के रूप उलटबासी तथा दृष्टकूट हैं, जिन्होंने कबीर तथा सूरदास की कविताओं को नई पहचान प्रदान की है।[118] यद्यपि सिद्ध कवियों ने इस शैली के इस्तेमाल के वक्त कभी-कभी काल्पनिकता की हदें पार कर दी हैं तथापि काव्यांग की दृष्टि से वह महत्वपूर्ण है। सधे हाथ न हो तो संधा का इस्तेमाल करना दुष्कर है। संधा की दृष्टि से भी सरहपा तथा अन्य सिद्ध कवि में काव्यगुण मौजूद है और वे कवि प्रासंगिक हैं।

सरहपा चौरासी सिद्धों में अग्रपूज्य थे। अतः शुक्ल जी की सिद्धों संबंधी बातें सरहपा पर भी लागू होती हैं। आचार्य महोदय ने सिद्धों के बारे में लिखा है- **"बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं, जिसका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक शक्ति संपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिए प्रसिद्ध थे।"**[119] उपर्युक्त कथन प्रायः सभी इतिहासकारों की अवधारणाओं पर केंद्रित है, खासकर शुद्धतावादी इतिहासकार, जिनमें स्वयं **शुक्ल, प्रज्ञापरमिताओं के संपादक श्री राजेंद्र लाल मित्र, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य, अरविंद** आदि आचार्य शामिल हैं।[120] दरअसल

---

[118] तुलसीदास जी ने भी एक जगह लिखा है- 'बिनु पद चलै'- जो पंक्ति संधा, उलटबासी तथा दृष्टकुट के निकट ठहरती है।

[119] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ-7

[120] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 51

सभी वज्रयान को बौद्ध धर्म का विकृत रूप मानते हैं। शुक्ल जी ने आगे और कठोरता के साथ सरहपा को उद्धृत किया है-

"...ऊपर उद्धृत थोड़े से वचनों से ही इसका पता लग सकता है कि इन सिद्धों द्वारा किस प्रकार के संस्कार जनता में इधर-उधर विखेरे गए थे। जनता की श्रद्धा शास्त्रज्ञ विद्वानों से हटाकर अंतर्मुखी साधनावाले योगियों पर जमाने का प्रयत्न सरह के इस वचन 'घट में ही बुद्ध है, यह नहीं जानता, आवागमन को भी खंडित नहीं किया, तो भी निर्लज कहता है, कि मैं पंडित हूँ...' मैं स्पष्ट झलकता है।"[121]

बिडंवना की बात है, शुक्ल जी को बाह्य कर्मकांड और पाखंड से अधिक बुरा सरह का देह के भीतर झांकने वाला वचन लगता है!

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा सिद्ध सरहपा की एक पंक्ति की ग़लत व्याख्या-

आगे उन्होंने एक पंक्ति का **ग़लत अर्थ** निकाला है। 'बौद्धगान ओ दोहा' में सरहपा की एक पंक्ति है, जिसमें उन्होंने कहा है-

"...उजु रे उजु छाड्डि मा लेहु रे बंक। णिअहि बोहि मा जाहु रे लाङ्क... "

आचार्य शुक्ल ने लिखा है- **" इसी प्रकार जहाँ रवि, शशि, पवन आदि की गति नहीं, वहाँ चित्त को विश्राम कराने का दावा 'ऋजु'(सिधा, दक्षिण) मार्ग छोड़कर 'बंक'(टेढ़ा, वाम) मार्ग ग्रहण करने का उपदेश भी है।"**[122]

उपर्युक्त शुक्ल जी के कथन में एक त्रुटि रह गई है, जिस ओर आश्चर्य की बात है, किसी भी आचार्य की दृष्टि नहीं गई है।

---

[121] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ- 12

[122] वह, पृ- 12

सरहपा सहजयान के भी प्रचारक हैं। उन्होंने सहज में जीने का उपदेश दिया है- 'जइ जग पूरिअ सहजाणंदे'... 'णाचहु गाअहु विलसहु चंगे'[123]..., 'चिंताचित्तवि परिहरहु, तिम अच्छहु जिमि बाल'[124]... आदि पंक्तियों में उन्होंने सहज जीवन और सहज मार्ग अपनाने के उपदेश दिए हैं। उपर्युक्त पंक्ति में भी सरहपा ने ऋजु यानी सीधे मार्ग को छोड़कर बांक यानी तेढ़े मार्ग को न अपनाने की सलाह दी है। **"ऋजु मार्ग यही सहज मार्ग है, जिसमें जीवन को अपने नैसर्गिक रूप में बिताना पड़ता है... सरह अपने मार्ग को दोनों चरम-पंथियों से भिन्न मध्य का बतलाते हैं। सहज शब्द उन्होंने बुद्ध की मध्यमा प्रतिपद् के लिए ही इस्तेमाल किया है... हाँ, उससे कुछ अंतर रखते हैं।"**[125] ओड़िया के विद्वान डॉ. खगेश्वर महापात्र ने 'चर्यागीतिका' में यही अर्थ बताया है। दुख की बात यह है कि शुक्ल जी इसका ग़लत अर्थ निकालते हैं। शायद शुक्ल जी को इस पंक्ति को समझने में कोई भूल हुई है। कोई कवि क्यों तेढ़ी राह में जाने को सलाह देगा, कि वहाँ बुद्ध रहते हैं। उपर्युक्त पंक्ति का सीधा अर्थ यह है कि, सीधे मार्ग पर चलो, तुम्हारे निकट में बुद्ध हैं, तुम्हें उनको पाने के लिए बौद्ध-तीर्थ लंका जाने की ज़रूरत नहीं है। आगे की पंक्ति और बेहतर ढंग से इसके अर्थ को समझा देती है- **"वाम दाहिण जो खाल-बिखाला/ सरह भणइ बपा उजु बाट भाइला"**[126] यानी वाम और दक्षिण मार्ग सभी में गड्ढें भरें हैं, तुम मध्यम मार्ग(सीधा या सहज मार्ग) का चुनाव करो। शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन ने अर्थ का अनर्थ किया है। प्रथम अध्याय में डॉ. नगेंद्र के इतिहास से मैंने ऐसी ही एक पंक्ति का उद्धरण दिया था। आप उस पंक्ति को और शुक्ल जी की पुस्तक की इस पंक्ति को आमने सामने रखकर देख सकते हैं। राहुल जी ने एक जगह नीम-हक़ीमी की बात की है, कि कैसे संपादक या आगे के उद्धृतकर्ता पंक्तियों में अपने मनमाने ढंग से फेर बदल कर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। शुक्ल जी से इतनी बड़ी चुक

[123] *दोहाकोश*, पृ- 26-27

[124] वही

[125] वही, पृ-31

[126] वही, पृ- 31

कैसे हो सकती है? इस मामले में वे विनयतोष भट्टाचार्य जी से प्रेरित मालूम होते हैं। विनयतोष जी ने तो **सिद्धों के युग को इतिहास का सबसे रोगाक्रांत युग** की संज्ञा दी है।

सभी को सिद्ध साहित्य में वामाचार की अतिवादिता दिखती है। सभी को उनमें तंत्र-मंत्र की गुह्य-वीभत्स क्रियाएँ दिखती हैं। किंतु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त ये बातें क्या सरहपा में भी बढ़चढ़ कर थीं? क्या सरहपा के सिद्धांत भी विकृत थे? क्या सरहपा ने तंत्र-मंत्र को घृणावस्था तक पहुँचाया था? इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ते वक्त शुक्लजी तथा अन्य विद्वानों के मतों को तथा सरहपा की रचनाओं को सामने रखा जाए। यह तो सच है कि सरहपा वज्रयान के मूल प्रचारकों में एक थे, किंतु उन्होंने उसे चरम सीमा तक नहीं पहुँचाया। उनकी रचनाओं से गुजरने से पता चलता है कि उनको तंत्र क्रिया आती थी, किंतु उन्हीं रचनाओं को पढ़ने से यह भी मालूम होता है कि उन्होंने तंत्र के घृणित रूप को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। वे रीतिकाल के बिहारी की तरह हैं जो 'सिद्ध' तो थे, किंतु 'बद्ध' नहीं। चौरासी सिद्धों की गुरुपरंपरा की एक तरह से शुरुआत इन्हीं से हुई थी। इन्होंने ही आड़ंबर को त्यागकर सहजता में जीवन बिताने का आह्वान् दिया था। ये वज्रयान के प्रचारक तो थे, किंतु वीभत्स और अश्लील नहीं। हाँ, उनके बाद आगे चलकर उपर्युक्त सभी बातें एक-एक करके सिद्धों में आने लगीं। बौद्ध धर्म का सरलीकरण करके उन्होंने उसको उन्मुक्त तो किया, किंतु कतई भी उन्होंने उसमें अश्लीलता और नंगापन नहीं भरा। जैसे आगे के अधिकतर सिद्ध कवियों ने भरा था। आगे सरहपा के नाम से भी अन्य सिद्धों ने तंत्रादि का चित्रण किया है। अतः आगे के सिद्धों की क्रिया को सरहपा के साथ भी जोड़कर देखना और उनपर वामाचार, अश्लीलता, जादू-टोना आदि का झूठा आरोप विद्वानों के द्वारा लगाना विद्वता की बात नहीं है। अंतर्विरोध तो हर किसी में रहता है। यह अंतर्विरोध सरहपा में भी है और इतिहासकारों में भी अवश्य है। तथ्यों की छानबीन से यह पता चलता है कि सिद्धों में जो कुछ भी अतिवादिता हुई है, वह सरहपा के बाद हुई है। हाँ, सरहपा

ने अवश्य ही उन्मुक्तता की किवाड़ खोली थी, जिस पर आगे के अधिकांश सिद्धों ने मर्यादा की हदें तोड़ी हैं।

जहाँ तक अश्लीलता की बात है, क्या आदिकाल की अन्य रचनाओं में अश्लीलता नहीं हैं? शरीर के विभिन्न कामोद्दीपक अंगों का चित्रण तो चंदबरदाई, विद्यापति, सूर, रीतिकाल के कई कवि तथा आधुनिक काल तक के कवियों ने किया है। चंदबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में जो **: "मुर मारुत मुरै चलै/ मुरै मुरि बैस प्रमानं/ तुछ कोपर सिस फुटि/ आन किस्सोर प्रमानं/ रोमराई अंग कुच नितंब/ तुच्छ सरसानं/ बढ़्ढै न सीत कटि छीन ह्वै/ लज्जमान ढँकती फिरै... "**[127] रेवा तट समय में एक ऋषि से वीर्यपात और उन वीर्यों को एक हाती के द्वारा खाने की काल्पनिक कहानी से सनी पंक्तियों का इस्तेमाल क्या अश्लील नहीं हैं?... भारत के जितने भी बड़े मंदिर हैं, सभी में कामोद्दीपक मूर्तिकलाएँ उत्कीर्ण हैं। क्या इस कारण उनमें भक्तों की आवाजाही में कोई फर्क पड़ा है? अतः कामोद्दीपक अंगों के चित्रण को देखकर किसी कवि को कवि कहने से नकार देना तथा उसे इतिहास तक में उसके हक़ का स्थान न देना, विचलित करता है।यह सर्वविदित है कि सिद्धों के द्वारा काव्यों में कामांगों का प्रयोग प्रतीकात्मक है, जो किसी अन्य गूढ़ अर्थ का प्रतिपादन करता है। सबसे ज़रूरी प्रश्न सरहपा में अश्लीलता है भी या नहीं, अगर है तो कितनी मात्रा में है और साहित्य में कामोद्दीपक वर्णन अश्लील है या कला? सरहपा की जिन पंक्तियों का संग्रह 'बौद्धगान ओ दोहा' में किया गया है, उनमें एक भी अश्लील पंक्ति नज़र नहीं आई। 'दोहाकोश' में संगृहीत अधिकांश पंक्तियाँ अनुदित या फिर प्रक्षिप्त हैं। अतः किन पंक्तियों के आधार पर सरहपा को अश्लील कहा जाए?

---

[127] अर्थात् शशिवृता की लचीली देह लता अब किशोरावय के पवन के झोंकों से लचकने लगी हैं, उसमें नई कोपलें फूटने लगी हैं। उसकी रोम-राजि, उरोजों और नितंबों में कुछ कुछ सरसता आने लगी है। वसंत के आने पर जिस तरह शीत कम होने लगता है, उसी तरह योवन के आगमन से शशिवृता की कटि क्षीण होने लगी है।लजवंती के पौधे की तरह वह सिकुड़-सिमटकर अपने नव योवन को ढकने का वह बहुत प्रयास करती है।बरदायी चंद, *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, शशिवृता विवाह*, पृ- 58, सं-1952, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड

रामचंद्र शुक्ल जी ने सरहपा पर बहुत कम ही लिखा है। जिनको बौद्ध-सिद्ध-जैन आदि पर कोई अधिक दिलचस्पी नहीं थी, उनसे सिद्ध सरहपा पर कुछ भी सुनने की आशा नहीं की जा सकती। वे स्वयं सिद्धों को भक्तिकाल के कवियों के पूर्वज ही मानते हैं। शुक्ल के इतिहास को पढ़कर पता चलता है, वे स्वंय कभी सिद्धों की भूमि में गए ही नहीं, न ही उन पर प्रत्यक्ष मौलिक विवेचन किया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, पंडित राहुल सांकृत्यायन तथा विनयतोष भट्टाचार्य की रचनाओं को पढ़कर ही उन्होंने कुछ धारणाएँ बनाई थीं। बकौल आचार्य शुक्ल- **"उनकी रचनाओं का एक संग्रह पहले म.म. हरप्रसाद शास्त्री बांगला अक्षरों में 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से निकाला था। पीछे त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन जी भोट देश में जाकर सिद्धों की और बहुत सी रचनाएँ लाए।"**[128]विनयतोष जी तथा राहुल जी ने तिब्बत व सिद्धों आदि पर 1930 ई० के बाद लिखना शुरू किया अतः उन्होंने अवश्य ही इस पंक्ति को दूसरे संस्करण या उसके बाद जोड़ा है।

शुक्ल जी ने विनयतोष जी के 'आन इंट्रॉडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरियम' का हवाला देते हुए सरहपा के जन्म के संबंध में लिखा है- "सिद्धों में सबसे पुराने 'सरह' (सरोजवज्र भी नाम है) हैं, जिनका काल डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने विक्रम संवत् 690 निश्चित किया है।"[129] संवत् को अगर ईसवी में बदला जाए तो यह 633 ई. ठहरता है। विनयतोष जी की यह पुस्तक सन् 1932 में आई, जिससे पहले से ही शुक्ल जी का पहला संस्करण आ गया था। अतः उन्होंने सरहपा के जन्म संबंधित इस तथ्य को बाद के संस्करण में जोड़ा है, जो सन् 1940 में प्रकाशित हुआ। तब तक सरहपा संबंधित राहुल जी की पुस्तकें (हिंदी काव्यधारा तथा दोहाकोष) प्रकाशित नहीं हुई थीं, अतः शुक्लजी ने विनय जी के मत को ही मान्यता दी। दरअसल सरहपा का जन्म कहाँ हुआ था, यह किसी भी विद्वान को सही-सही पता नहीं है। अतः शुक्ल ने भी सरहपा के जन्मस्थान के बारे में कुछ नहीं लिखा है। सरहपा के

---

[128] शुक्ल रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ-8

[129] वही, पृ-8

जन्म के संबंध में शुक्लजी को विनय जी के तथ्य प्राथमिक लगे। राहुलजी सरहपा का जन्म 769 ई. को मानते हैं, जिसे उन्होंने कुछ विशेष साक्ष्यों पर तय किया था। सरहपा तथा सिद्धों संबंधित शुक्ल जी के मतों से गुजरने से कुछ निष्कर्ष मालूम होते हैं। एक तो अवश्य ही शुक्ल जी के सामने तथ्यों की कमी थी। दूसरी बात क्योंकि सरहपा तथा अन्य सिद्ध हिंदी प्रदेश से इतर आविष्कृत हुए थे एवं उनकी भाषा आदिकालीन हिंदी से भिन्न, पूरबीपन लिए हुए थी अतः इनकी ओर शुक्ल जी का विशेष ध्यान नहीं गया होगा। शुक्ल जी को शिक्षित, शुद्धता आदि विशेषणों से अधिक दिलचस्पी थी। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात सरहपा तथा अन्य सिद्ध कबीर के ही तरह रहस्यवादी थे अतः शुक्ल ने उन पर उतनी उदारता नहीं दिखाई है। चौथी बात सरहपा का व्यक्तित्व कबीर की ही तरह विद्रोही तथा क्रांतिकारी(यह आज के राजनीतिक क्रांतिकारी से भिन्न) थी[130], जिससे रामचंद्र शुक्ल को आपत्ति हो सकती है । पाँचवीं बात उन्होंने बिना छानबीन किए विनय जी को यथासंभव कोट कर दिया है। हर इतिहासकार और आलोचक की अपनी सीमा होती है, चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो। इतिहासकार का व्यक्तित्व इतिहास लेखन को प्रभावित करता है। शुक्ल जी की भी अपनी व्यक्तिनिष्ठ सीमा थी। अमरनाथ ने वागर्थ के अंक में लिखा है- **"स्मरणीय है कि आचार्य शुक्ल के पिता पंडित चंद्रबली शुक्ल आर्यसमाजी थे। शुक्लजी पर उनका गहरा असर था। आर्य समाज शुद्धतावादी, संस्कृत व वेदों को सर्वाधिक प्रतिष्ठा देने वाला सुधारवादी आंदोलन था। हमें इस पृष्ठभूमि की भूमिका को भी स्मरण रखना चाहिए।"**[131]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और सिद्ध सरहपा:-

'हिंदी का साहित्य भारतीय चिंतना का स्वाभाविक विकास है' के परिप्रेक्ष्य से सिद्ध सरहपा-

---

[130] सरह विद्रोही थे। राजनीतिक विद्रोही नहीं, विचारों की दुनिया के विद्रोही और कितने ही अंशों में सामाजिक विद्रोही भी। उन्होंने अपने 'दोहाकोश चर्यागीति' के पहिले 12 दोहों में अपने समय के धार्मिक संप्रदायों और उनके विचारों का खंडन किया है। "यदि नग्न रहने से मुक्ति हो, तो कुत्ते और सियार भी मुक्त हो जाएँगे। मोर पंख ग्रहण करने से यदि मोक्ष हो, तो मोर और चमर भी मुक्त हो जाएँगे।" सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 26

[131] आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जातीय चेतना और आज का हिंदी समाज, अमरनाथ, *वागर्थ*, अगस्त 2006, भारतीय भाषा परिषद्, पृष्ठ-12

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन पर नवीन तथा समावेशी दृष्टि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने डाली। एक तरह से उन्होंने पुरानी परंपरा का उल्लंघन किया और साहित्य की सार्वभौमिकता पर बल देकर दूसरी परंपरा की खोज की है। अलग-अलग पुस्तकों में उन्होंने साहित्येतिहास पर नवीन, तटस्थ तथा शुक्ल जी से विशिष्ट विचार अवश्य ही प्रस्तुत किए हैं। द्विवेदी जी की (हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधित) पहली पुस्तक सन् 1940 को 'हिंदी साहित्य की भूमिका' के नाम से छपती है। संयोग से शुक्ल के इतिहास का दूसरा संस्करण भी इसी वर्ष आता है। द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि शुक्ल जी से अनोखी है। उसके सबसे प्रमुख कारण निम्नवत हैं-

1. द्विवेदी जी हिंदी साहित्य के इतिहास को प्रवाहमान महान् भारतीय परंपरा समुच्चय के साथ देखते हैं। हिंदी साहित्य सिर्फ हिंदी भाषी जनता का नहीं, " हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास है।"[132] जिसमें अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य अपने-अपने स्थान रखते हैं।
2. उनके लिए मनुष्य मुख्य है। मनुष्य में बहने वाली अनंत-अनाहत विकास धारा साहित्य का निर्माण करती है। साहित्य के इतिहास के संबंध में वे मानते हैं- "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार, कवि और काव्य, संप्रदाय और उसके आचार्य, उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं में बहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है, उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।"[133]

---

[132] *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली* में उद्धृत शीर्षक का अंश

[133] द्विवेदी हजारी प्रसाद, *हमारे पुराने समय के साहित्य की सामग्री, अशोक के फूल*, पृ-79

3. द्विवेदी जी ने अपना ओजस्वी लेखकीय विवेक शांतिनिकेतन में कविवर रवींद्रनाथ, क्षितिमोहन सेन तथा अन्य बांग्ला के विद्वानों के बीच रहकर प्राप्त किया था। तत्कालीन हिंदी क्षेत्र से दूर वे बंगला भूमि से जुड़े हुए थे, जो अपने आप में सांस्कृतिक रूप से समृद्ध थी। हिंदी क्षेत्र से अलग बंगाल में रहने तथा अध्ययन-अध्यापन करने की वजह से उन पर मिश्रित संस्कृति का प्रभाव पड़ा। उनका मानना था- "देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है, सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है! "[134]अर्थात् कोई भी संस्कृति विशुद्ध नहीं होती। संस्कृति एक दूसरे से मिलकर ही समृद्ध हो सकती है। दरअसल विशुद्ध कुछ भी नहीं है, सभी- संस्कृति की अविच्छिन्न परंपरा के अंग हैं अर्थात् हिंदी अकेली महान नहीं बनी है, उसकी समृद्धि में भगिनी भाषाओं का योगदान अतुलनीय है।

4. उन्होंने हिंदी में पहली बार हिंद के विकास में उसकी प्रतिवेशी भाषाओं के प्रभाव को स्वीकारा है। किसी वस्तु की व्यापकता को संकुचित दृष्टि तथा क्षेत्र से अलग हटकर मापा जा सकता है। जहाँ पर शुक्ल जी हिंदी साहित्य को हिंदी क्षेत्र के भीतर रहकर देख रहे थे, वहीं द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य की धारा को बंगाल में रहते देख रहे थे। साहित्य के लेखन के लिए जैसे साहित्य से अलग होना पड़ता है, वैसे ही साहित्य के इतिहास के लेखन के लिए भी उस साहित्य के परिसर से बाहर जाकर तटस्थ दृष्टि से उसे देखना पड़ता है। उन्होंने लिखा है- "अगर आप भारतवर्ष के मानचित्र में उस अंश को देखें

[134] द्विवेदी हजारी प्रसाद, *अशोक के फूल*, पृ- 14

जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है, तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ तो उत्तर में भारतीय सीमा को छुए हुए है, जहाँ से आगे बढ़ने पर एकदम भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूर्व की ओर भारतवर्ष की पूर्वी सीमाओं को बनाने वाले प्रदेशों से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति पर भिन्न प्रकृति वाले प्रदेशों से घिरा हुआ है। भारतवर्ष का ऐसा कोई भी प्रांत नहीं है, जो इस प्रकार चौमुखी प्रकृति और संस्कृति घिरा हुआ न हो। इस घिराव के कारण उसे निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा है।"[135] अतः द्विवेदी जी को हिंदी की ऐतिहासिक परंपरा अन्य भाषाई परंपरा के साथ जुड़ी हुई दिख रही थी। जिस कारण उसके मूल्यांकन के समय उन्होंने अन्य भाषा-भाषी समुदाय के योगदान को स्वीकार किया है।

5. जहाँ पर शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य के विकास में उसकी शिक्षित जनता को महत्वपूर्ण माना है, वहीं द्विवेदी जी के लिए 'लोक' महत्त्वपूर्ण है, जिसके अंतर्गत शिक्षित अशिक्षित सब समाहित हैं। उनके लिए लोक-चिंता ही परम चिंता है। उन्होंने हिंदी साहित्य को संपूर्ण लोक भाषा का साहित्य माना है। वे 'हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री' नामक अशोक के फूल निबंध संग्रह में संगृहीत निबंध में लिखते हैं- " हिंदी साहित्य का इतिहास केवल संयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। हिंदी का साहित्य संपूर्ण लोकभाषा का साहित्य है।" [136]यह निश्चित है कि उनके लिए यह लोकभाषा सिर्फ हिंदी ही नहीं अपितु उसकी प्रतिवेशी भाषाओं की समष्टि है। उनकी लोक संबंधी अवधारणा ने ही सिद्धों, नाथों, जैनों, संतों

[135] द्विवेदी हजारीप्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका*, पुस्तक[डॉट]ओआरजी
[136] द्विवेदी हजारी प्रसाद, *हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री, अशोक के फूल*, पृ-78

तथा गुजराती, बांग्ला, ओड़िया आदि के कवियों के योगदान को हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण माना है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने लिखा है- "...इस प्रकार महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् इसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकारता गया, यहाँ तक की अंत में जाकर लोकमत में घुलमिल गया। सन् ईसवीं के हजार वर्ष बाद अवस्था सभी संप्रदायों, शास्त्रों और मतों की बनी रही। ... हजार वर्ष पहले से ही वे ज्ञानियों और पंडितों के ऊचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिंदी साहित्य है। मैं इसी रास्ते सोचने का प्रस्ताव करता हूँ। मतों, आचार्यों, संप्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदण्ड से लोकचिंता को नहीं मापना चाहिए। बल्कि लोकचिंता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूँ।" [137]उनकी ऐतिहासिक मनोवृत्ति और आधारभूमि लोक चिंता और लोकपक्षधरता के ऊपर टिकी थी, जिसके अंतर्गत लौकिक-अलौकिक, साहित्यिक-धार्मिक-आध्यात्मिक सभी तत्व अपना-अपना महत्व रखते थे। उनकी दृष्टि में वह साहित्य महत्वपूर्ण था जो लोक में रचा-बसा हो और लोक को प्रभावित-प्रेरित करता हो, चाहे उसमें काव्यगुण की न्यूनाधिक कमियाँ ही क्यों न रह जाए। उनके लिए सरहपा आदि सिद्ध(पूर्वी भारत के), गोरखनाथ आदि नाथ(पंजाब आदि पश्चिमी क्षेत्र के), कबीर तथा अन्य संत, बंगाल के रमई पंडित आदि कवि, पंचसखा तथा भीम भोई आदि उड़िया संत कवि के साहित्य विशेष महत्व रखते हैं। जहाँ भी मौक़ा मिला है,

[137] द्विवेदी हजारीप्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका*, पृ-39

उन्होंने हिंदी के विकास में इन कवियों के योगदान को न सिर्फ रेखांकित किया है, बल्कि भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है।

डॉ. भर्मवीर भारती ने आ. द्विवेदी के संबंध में लिखते हुए उनकी लोक पक्षधरता की तारीफ करते हैं -

"सिद्धों के साहित्य का अध्ययन करते हुए सबसे पहले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध साहित्य के मूल्यांकन में लोकपक्ष के महत्व की ओर संकेत किया है। वे उन आचार्यों से अपना विरोध प्रकट करते हैं, जो लोकचिंता को शास्त्रीय दृष्टिकोण से माप कर यह कहते हैं, कि यदि अमुक संप्रदाय लोकप्रियता की ओर बढ़ा तो उसका अधो पतन हो गया। वे लोक चिंता को मापदंड बनाकर उसी पर संप्रदायों के विकास और संस्कृति तथा साहित्य की प्रगति का मूल्याकंन करना चाहते हैं।" [138]

इसके लिए उनकी ऐतिहासिक पुस्तकें- 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास', 'हिंदी का आदिकाल', 'मध्यकालीन साधना', 'मध्यकालीन साहित्य'; निबंध संग्रहः 'अशोक के फूल' तथा अन्य एवं निबंध- 'हमारे पुराने साहित्य की सामग्री' आदि द्रष्टव्य हैं। हिंदी पर अन्य भाषा- साहित्य के सकारात्मक प्रभाव संबंधित इनकी अवधारणाएँ इसलिए भी महत्व रखती हैं क्योंकि हिंदी के आगे के इतिहासकारों ने, खास कर राहुल सांकृत्यायन तथा धर्मवीर भारती आदि ने बिल्कुल यही अवधारणा रखकर साहित्य का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है, अपनी मौलिकता के बावजूद 'हिंदी काव्यधारा' पुस्तक इस बात को प्रमाणित करती है।

अतः हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की इतिहास दृष्टि विशिष्ट और महत्वपूर्ण इसलिए है और उनका उल्लेख करना यहाँ इसलिए समीचीन है, कि उन्होंने हिंदी साहित्य के विकासधारा को भारतीय साहित्य के विकास धारा से जोड़कर देखा। साथ ही सिद्धों समेत उन धाराओं को हिंदी साहित्य इतिहास में स्थान दिया, जिनको अन्य इतिहासकारों ने तवज्जो नहीं दिया था। जिसने आगे के पाठकों और इतिहासकारों को आंचलिकता से परे सोचने को प्रेरित किया। उन्होंने ही

---

[138] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य,* सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ- 53

सरहपा, कबीर तथा अन्य कवियों को इतिहास में पहचान दिलाई, जिन्हें हाशिए पर रखा गया था।

हिंदी साहित्य को उन्होंने भारतीय साहित्य-महा-सरिता का ही एक अंग घोषित किया है। उनका आग्रह है कि "हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाए।"[139] अर्थात् हिंदी का साहित्य तथा उसके कवि अन्य भारतीय साहित्य से अपना संबंध रखते हैं उनको अलग न किया जाए। इस दृष्टि ने इतिहास लेखन को उदार बनाया। क्योंकि विवाद सिद्धों की वासभूमि को लेकर अधिक है कि अमुक कवि अमुक क्षेत्र से संबंधित है, जिस विवाद में सरहपा को लेकर सर्वाधिक बहसें हुई हैं। द्विवेदीजी ने 1940 ई. में 'हिंदी साहित्य की भूमिका' नामक ऐतिहासिक पुस्तक का प्रकाशन किया। यह अपने आप में अनोखी कृति थी। इस पुस्तक में उन्होंने बौद्ध धर्म से संबंधित विभिन्न शाखाओं पर विशिष्ट चर्चाएँ की हैं। द्विवेदी जी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में 'बौद्धगान ओ दोहा' के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं-

"सन् 1323 बंगाब्द अर्थात् 1916 ई. में महामहोपाध्याय पं हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से कुछ अपभ्रंश की पुस्तकें प्रकाशित कराई। इन पुस्तकों की भाषा को उन्होंने प्रचीन बांगला कहा। पुस्तक नाना दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण थी; परंतु जान पड़ता है कि बंगाक्षरों में छपी होने के कारण हिंदी के विद्वानों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हो न सका। इसके दोहों की भाषा में परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं पर पदों में पूर्वी प्रदेशों की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बांगला का पूर्व रूप कहा गया तो कभी मैथिली और मगही का तो कभी भोजपुरी का। कुछ लोगों ने इसमें ओड़िया भाषा का पूर्व रूप भी देखा है। निःसंदेह हिंदी साहित्य के परवर्ती काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यंत ही उपादेय है।"[140]

---

[139] *द्विवेदी हजारी प्रसाद, ग्रंथावली-3,* निवेदन

[140] द्विवेदी हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका,* पृ. 49

अगर सिद्ध-कालीन भाषा से ही उनके जन्म-कर्म-स्थान का पता चलता है तो उपर्युक्त पंक्तियाँ सरहपा को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। सरहपा समेत सिद्धों की रचनाएँ दो प्रकार की मिलती हैं- दोहा तथा पदों की शैली में। द्विवेदी जी के अनुसार दोहे परिनिष्ठित अपभ्रंश में हैं तो पदों में पूर्वी भारत में बोली जाने वाली भाषाओं के रूप विद्यमान हैं। तो यह सवाल उठता है कि कैसे एक ही कवि की दो अलग-अलग भाषाएँ हो गईं ? दरअसल यह बात केवल सिद्धों को ही नहीं, उस काल के अन्यतम कवि विद्यापति को समझने के लिए भी महत्वपूर्ण है। सिद्धों की ही तरह विद्यापति भी विवाद के कटघरे में दंडायमान हैं। उनपर मैथिली और बंगाल दोनों दावे करते हैं कि वे उनकी ही भाषा के कवि हैं। यह समस्या भी पदों के कारण उपजी है। दरअसल पदों की गेयता के कारण, वह भूगोल को लांघते हैं और उनकी भाषा में अँचल विशेष की पुट आ जाती है। विद्यापति की पंक्तियाँ रचीं तो मैथिली में गईं किंतु उनको चैतन्य ने गा-गा कर लोकादृत किया। (विद्यापति पदावली) मैथिली की पंक्तियाँ जब बाँग्ला के लोगों के बीच पहुँचीं और लोकप्रिय हुईं, तो उन्होंने अपना पूर्व- भाषिक-अस्तित्व खो दिया। उनमें बांग्ला भाषा के रूप, ध्वनि आदि तत्व समाहित हो गए। यह प्रक्रिया इतनी मात्रा में हुई कि उसमें अपना पूर्व रूप लगभग समाप्त हो गया। आधुनिक काल में भाषिक-संदर्भ में जब राज्यों का निर्माण हुआ तो एक भारी विवाद पैदा हो गया कि विद्यापति मैथिली के हैं या बांग्ला के? सिद्ध तथा सरहपा के साथ भी लगभग यही हश्र हुआ है। लोक में दोहों से अधिक उनके पदों या गीतों को मान्यता मिली, उनका इस्तेमाल विशेष अवसरों पर होता है। उनको अंचल विशेष में पहले गाया गया और बाद में उनको लिपिबद्ध किया गया, यानी 12 वीं शताब्दी के बाद। अतः पूर्वी-भारत के लोगों के कंठ में जीवित रहने के कारण उनमें पूर्वीपन आना स्वाभाविक था। साथ ही ये कविताएं पूर्वी भारत में तैयार हुई थीं, अतः उनमें पूर्वी भारत का भाषा-रूप देखने को मिल जाना स्वाभाविक है। जो इतिहासकार सरहपा समेत सिद्धों को स्वात उपत्य का यानी पश्चिमोत्तर भारत का सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, वे ये कैसे भूल जाते हैं कि इन सिद्धों ने तत्कालीन पश्चिमोत्तर भारत में बोली जाने वाली भाषा का इस्तेमाल अपनी

कविताओं में क्यों नहीं किया है? ओड़िया के इतिहासकार डॉ. खगेश्वर की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:-

"सभी चर्यागीतिका संगीतात्मक हैं। ये धार्मिक अनुष्ठानों में गाई जाती थी। प्रत्येक चर्या के राग इस कारण सुनिर्दिष्ट है। इनमें निम्नलिखित सरे छंदों का प्रयोग हुआ है- पट्टमंजरी, गउड़ा, माळसी गइड़ा, माळसी, मल्हारी, गुंजरी, गुर्जरी, रामक्री, देशाख, भैरवी, कामद, बराड़ी, शबरी, अरु, देवक्री, धनसी, बंगळा, इंद्रताल आदि। शांर्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' से पता चलता है कि एक निर्दिष्ट संगीत के रूप में चर्यागीतियों को ग्रहण किया जाता था।उन्होंने लिखा है- 'पद्धति प्रकृत छंदाः पदांतप्रास शोभिताः/ अध्यात्मगोचरा चर्यास्यिद् द्वितीयादि तालतः'…"[141]

ऐसा और एक प्रक्रिया में भी होता है। आधुनिक काल में संपादकों द्वारा भी घालमेल होता है, जिन्हें राहुलजी ने नीम-हक़ीम कहा है। ये नीम-हक़ीम संपादक जब अतीत के तथ्यों, साहित्य को संपादित करते हैं तो कुछ अनजाने और अधिक जानबूझकर उनमें आधुनिक पुट भर देते हैं। सतर्क दृष्टि न अपनाएँ तो यह घालमेल पता नहीं चलता। 'बौद्धगान ओ दोहा' को ही लें तो हरप्रसाद जी ने जब उसका संपादन किया तो उसमें बंगालीकरण हुआ, वैसे ही ओड़िया के इतिहासकारों ने जब उनका संपादन किया तो उनका ओड़ियाकरण किया गया। हिंदी में भी यह कोशिश हुई है, जिसे नज़रअंदाज नहीं कर सकते। इसपर भी अन्य अध्याय में विशेष दृष्टि डाली जाएगी।

(हिंदी साहित्य का भक्तिकाल अगर लोकमत का स्वतः विकास है तो उसमें आदिकाल, पूर्वीभारत के लोकमत, सिद्ध साहित्य आदि का विशेष योगदान है।)

<u>भदंत राहुल सांकृत्यायन की इतिहास दृष्टि और सिद्ध सरहपा:-</u>

[141] महापात्र खगेश्वर, *चर्यागीतिका,* पृ-26

सिद्धों तथा नाथों में सरहपा को राहुल सांकृत्यायन ने हिंदी साहित्य में विशेष स्थान प्रदान किया। उन्होंने हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की लोकमत की परंपरा को आगे तो बढ़ाया ही साथ ही सिद्ध साहित्य की सामाजिक संरचना तथा तत्कालीन समाज के साथ उसके जुड़ाव तथा समाज पर उसके प्रभाव को दर्शाते हुए पहली बार हिंदी साहित्य के विकास में सिद्धों की भूमिका को सामने रखा। उन्होंने सिद्ध सरहपा को सारथी के रूप में चुना। इसके लिए 'दोहाकोश' विशेष महत्व रखता है।

आ. शुक्ल, विनयतोष भट्टाचार्य आदि ने सिद्ध साहित्य को पतनोन्मुख परंपरा बताया था और उसका समाज पर नकारात्मक प्रभावों की ओर संकेत किया था । उनको इसमें गुह्य, दुराचार आदि कुत्सित चीज़ें दिख रही थीं। किंतु राहुल जी ने सिद्धों के महत्व को समझा। इसके लिए राहुल जी कृत 'हिंदी काव्यधारा' दृष्टव्य है। डॉ. धर्मवीर भारती जी ने राहुल जी के सिद्धों संबंधित विचारों पर लिखा है-

"इसी दृष्टि से सिद्धों के साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन आवश्यक है और यह देखना है कि उस समय लोकमत प्रबल था अथवा दुर्बल था और उसने सिद्ध साहित्य में अपने को प्रगतियुक्त विद्रोह के रूप में अभिव्यक्त किया है या दुर्बल ह्रासोन्मुखता के रूप में। हिंदी में सिद्ध साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षण कराने का श्रेय श्री राहुल सांकृत्यायन को दिया जाना चाहिए। हिंदी काव्यधारा (1945ई.) की भूमिका में राहुल जी ने विस्तार से सिद्धों तथा उनके समसामयिक कवियों की रचनाओं पर सामाजिक पृष्ठभूमि के प्रभाव का विश्लेषण किया है।"[142]

एक तटस्थ आलोचक या इतिहासकार यह कभी भी नकार नहीं सकता कि कोई भी विशेष युग या विशेष प्रकार की काव्यधारा (चाहे उसे नैतिकता की दृष्टि से कितना भी पतित समझ लिया जाए), किंतु उसका उस युग तथा आगत काव्य-युग के प्रति योगदान को नकारा नहीं जा सकता। सिद्धों तथा सरहपा पर तंत्रिक, अश्लीलता, वामाचारी आदि कितने ही आरोप क्यों न लगाए, उनके विशेष गुणों को

---

[142] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 54

अनदेखा नहीं किया जा सकता। हर युग का अपना अंतर्विरोध अवश्य रहता है। इन अंतर्विरोधों से कोई भी युग, कोई भी काव्यधारा बच नहीं पाए हैं। किंतु अंतर्विरोध को देखकर किसी युग या बड़े कवि को नकार देना कितना उचित है? काव्यत्व, युगधारा की दृष्टि से रीतिकाल भी अपना विशेष स्थान रखता है।इस तरह राहुल सांकृत्यायन जी ने इस बात की पहचान की और हिंदी साहित्य में आदिकाल के महत्व को समझा। वे शुद्ध इतिहासकार नहीं थे। उनकी अपनी सीमाएँ थीं किंतु उनके योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। 'हिंदी काव्यधारा' की भूमिका में उन्होंने सरहपा तथा सिद्धों आदि के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है-

"हमारे मध्यकालीन कवियों ने अपना नाता सिर्फ संस्कृत के कवियों से जोड़े रखा, जिससे हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक विकास की यह महत्वपूर्ण कड़ी, काव्य परंपरा से टूटकर अलग जा पड़ी... बीच की पाँच सदियों के अपभ्रंश काव्य का थोड़ा सा भी अनुशीलन हमें लाभ ही पहुँचाएगा... यह न केवल हिंदी की ही, बल्कि बंगला- गुजराती-मराठी-सिंधी-उड़िया-पंजाबी-राजस्थानी-मगही-मैथिली-भोजपुरी आदि भाषाओं की सम्मिलित निधि है, सिद्ध-सामंत युगीन जन साहित्य की अवहेलना हमारे लिए परम हानिकर होगी..."[143]

'हिंदी काव्यधारा' इस बात को प्रमाणित करती है कि हिंदी तथा उसकी प्रतिवेशी भाषाएँ कई दृष्टि से एक हैं। उनको नजरअंदाज करके हमारे साहित्य के इतिहास के स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती है। उनकी इस दृष्टि ने कई हाशिए पर खड़े कवियों को वह प्रतिष्ठा दिलाई, जिन्हें मुख्यधारा के इतिहासकार बिल्कुल ही नकार चुके थे। सरहपा उनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं।

यद्यपि सिद्ध समेत सरहपा को उन्होंने हिंदी साहित्य जगत् में विशिष्ट पहचान दिलाई किंतु इनके बारे में इनकी आलोचना को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। उनकी आलोचना के संबंध में डॉ. धर्मवीर भारती जी ने लिखा है-

---

[143] सांकृत्यायन राहुल, *हिंदी काव्यधारा*, भूमिका

"पर उनके मतानुसार सिद्धों की चिंतना को भी सामंतवादी प्रभाव स्वीकार करना पड़ा और उनके नाम पर 'मंत्र-तंत्र और पाखंड चल पड़े।' गुरु की महिमा को भी इतना अनावश्यक महत्व दिया गया कि पीछे वह 'अंधेर गरदी' का एक भारी साधन बन गया।"[144]

उपर्युक्त उक्ति से एक बात तो समझ में ही आती है कि राहुल जी ने न सिर्फ सिद्धों की तारीफ की बल्कि उनकी कमियों की आलोचना भी की है, जिन्हें हम कमियों के अंतर्गत गिनते हैं, उनमें एक पक्ष और भी निहित होता है, जो एक अलग दृष्टि से चीज़ों को विचारने की माँग करता है। राहुल जी की ऐतिहासिक दृष्टि में कमियों की चर्चा हम आगे के अध्याय में व्यापकता से करेंगे। एक बात तो तय है कि अगर राहुल जी न होते तो हिंदी में सरहपा को वह स्थान नहीं मिला होता।

धर्मवीर भारती का शोध विवेक और सिद्ध सरहपा:-

राहुल जी के बाद सिद्धों पर सबसे उल्लेखनीय महत्वपूर्ण काम डॉ. धर्मवीर भारती जी ने किया है। हिंदी साहित्य के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ कि सिद्धों तथा सरहपा पर शोधपरक तटस्थ दृष्टि धर्मवीर जी ने डाली और उनका ऐतिहासिक, साधना परक, भाषिक कोटियों, काव्यांग, पारंपरिक, सिद्धांतगत तथा तुलनात्मक आदि दृष्टि से अध्ययन हुआ। उन्होंने सबसे विशेष काम सिद्धों की काव्यशैली को विश्लेषित कर किया है। बक़ौल भारती जी-

"अपने इन सिद्धांतों का प्रचार और अपनी रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति इन सिद्धों ने जिस काव्य शैली में किया है, वह और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उसी काव्य शैली के प्रतीक, उपमान, रूपक और छंद तक कई परवर्ती संप्रदायों के साहित्य में अपनाए जाते रहे हैं। इनका काव्य निस्संदेह लौकिक काव्य नहीं था अतः धार्मिक काव्य के संबंध में जो भी कसौटियाँ या धारणाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनकी ओर संकेत कर दिया गया है।"[145]

---

[144] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ-57

[145] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- vii

उपर्युक्त वाक्यों में एक बात विरोधाभास पैदा करती है कि सिद्धों का साहित्य लौकिक नहीं धार्मिक था। सिद्ध भी तत्कालीन समाज में अपनी हिस्सेदारी रखते थे। खास कर सरहपा, जिनको अधिकांश आलोचक प्रगतिशील कवि मानते हैं। प्रगतिशीलता का जन्म लौकिकता में होता है। सिद्धों को लौकिक कवि न कहना त्रुटिपूर्ण लगता है। आगे के अध्याय में इस पर चर्चा हुई है कि सरहपा लौकिक थे। उनकी काफी रचनाएँ अभी भी कहीं ग़ुम हैं। अतः जब तक वे नहीं मिलतीं, उनके संबंध में कोई भी निर्णय लेना ठीक नहीं लगता।

हर एक शोध में विरोधाभास रहते हैं, जो उसकी कमजोरी नहीं, अपितु आगत शोधकर्ताओं के लिए प्रश्न पैदा करते हैं, कुछ नया सोचने तथा करने को प्रेरित करते हैं। सिद्ध सरहपा तथा सिद्धों के मामले में शुक्ल में भी कमियाँ थीं, द्विवेदी में भी तथा राहुल जी और धर्मवीर भारती जी में भी। लेकिन उनकी आलोचनाओं में सिद्ध सरहपा के संबंध में सकारात्मक बातें भी अवश्य विद्यमान हैं। सिद्ध साहित्य तथा सरहपा का अध्ययन बहुत जटिल कार्य है। प्राथमिक वैज्ञानिक तथ्यों का न मिल पाना, विवाद आदि कई चीज़ें इस अध्ययन को और क्लिष्ट कर देती हैं। अतः हमें इनकी मेहनत की प्रशंसा करनी चाहिए। धर्मवीर जी ने प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखा है-

"यह विषय अत्यंत जटिल है और अभी इस दिशा में काम करने की बहुत गुंजाइश है। जो विद्वान सिद्ध साहित्य के अध्ययन को आगे बढ़ाएँगे, उनके लिए यदि यह ग्रंथ (सिद्ध साहित्य) एक समुचित भूमिका प्रस्तुत कर सका और अधिकाधिक विद्वानों को दिशा में कार्य करने को प्रेरित कर सका तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।"[146]

मैंने अपने इस शोध प्रबंध में डॉ. धर्मवीर भारती जी की इसी पुस्तक 'सिद्ध साहित्य' को आधार बनाया है। हिंदी में यह एक विरल शोध है।

निष्कर्षः-

---

[146] वही, प्रथम संस्करण की भूमिका

यहाँ तक हम ने देखा कि कैसे हिंदी के अलग-अलग विद्वानों ने सरहपा को समझा है और उनकी कैसी व्याख्या की है। हर इनसान की अपनी ख़ासियत और अपनी सीमा होती है। उपर्युक्त तथ्य जहाँ एक तरफ सरहपा को परिभाषित कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य तथ्य उनकी ग़लत व्याख्या भी प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें सरहपा को अखिल भारतीय साहित्य परंपरा में रखकर देखना होगा। हमें यह निश्चित करना होगा कि सरहपा के योगदान की ग़लत व्याख्या न हो। जिससे हम सिद्ध कवि सरहपा के साथ उचित न्याय कर सकेंगे।

चतुर्थ अध्याय

सिद्ध सरहपा तथा उनकी रचनाओं की ऐतिहासिकता

अध्याय का सामान्य परिचय:-

"ऐतिहासिक बोध, राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार, फिर पार्थक्य में अंतर्निहित संपृक्तता का अभिज्ञान, तथा युग की प्रवृत्तियों और विकास की चेतना जो प्रत्नतत्वानुसंधान-वृत्ति से समन्वित होते हैं और शताब्दियों से एकत्र होती हुई सामग्री का वे अपने युग की इदानंतता की दृष्टि से उपयोग करते हैं, तो साहित्येतिहास का निर्माण होता है।"[147]

यशस्वी इतिहासकार नलिनी विलोचन शर्मा जी ने साहित्य के इतिहास लेखन संबंधित जो उपर्युक्त कोटियाँ दी हैं, उनको दृष्टि में रखकर पहले के अध्यायों में कुछ बातें हो चुकी हैं, उसी दृष्टि की सहायता से, इस अध्याय में भी सरहपा का विवेचन होगा। इस प्रक्रिया में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या सरहपा भारत की किसी भी पुरातन या आधुनिक भाषा साहित्य के इतिहास में अपना स्थान रखते हैं? इतिहासकार सरहपा के ऐतिहासिक विवरण देते वक्त कैसा इतिहास बोध रखते हैं? इतिहास में नैरंतर्यता और अनैरंतर्यता विच्छिन्नता और अविच्छिन्नता- इनका ध्यान अवश्य रहना चाहिए। (सरहपा का सीधा संबंध गोरखनाथ तथा कबीर से नहीं है अपितु ये एक लंबी परंपरा के तहत, सरहपा-गोरखनाथ-ज्ञानदेव-नामदेव-कबीर तथा अन्य संत, के साथ अवलंबित है। जिसमें सत्संग ने अपना विशेष योगदान दिया है। ठीक उसी तरह ओड़िया के आगे के संत-वैष्णव कवियों से कहीं सीधा तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप से वे संबंधित हैं। यह योगसूत्र इतना उलझा हुआ है कि उनको सुलझाना अंगद का पाँव होने जैसा है।) सरहपा की ऐतिहासिकता क्या है? सरहपा को लेकर जो विवाद पैदा हुआ है, उसमें प्रमुख कारण है, उनकी रचनाओं की भाषा। एक ओर जहाँ उनकी भाषा आज की आधुनिक उत्तर तथा पूर्वी भारतीय भाषा से अपना संबंध रखती है, वहीं दूसरी ओर कई मात्रा में उनसे स्वतंत्र और विशेष भी है।

---

[147] शर्मा नलिनविलोचन, *साहित्य का इतिहास दर्शन*, पृ-3

इन भाषाओं तथा सरहपा की कविताओं की भाषा में संपृक्तता तथा अंतर किस हद तक है? इसका अन्वेषण होगा। इसके अलावा विभिन्न प्रत्नतात्विक साक्ष्यों के आधार पर सरहपा का विवेचन इस अध्याय में होगा।

सिद्ध सरहपा कहाँ के थे?

सिद्ध सरहपा को लेकर जितने भी विवाद पैदा हुए हैं, उन विवादों में सबसे प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि वे कहाँ के थे? यानी उनका जन्म कहाँ हुआ था? उन्होंने किस जगह अपनी जिंदगी बिताई थी? कहाँ पर अध्ययन-अध्यापन किया था? कहाँ पर सिद्धि प्राप्ति की थी? किस राजा के राज्यकाल में वे विद्यमान थे, उनकी भाषा क्या थी? इत्यादि...

एक तो ये प्रश्न इतने उलझे हुए हैं कि उनका उत्तर ढूँढ पाना मुश्किल है। साथ ही यही प्रश्न सरहपा को अधिक विवादास्पद सिद्ध-कवि बना देते हैं। निश्चय ही सरहपा भारतीय वाङ्मय के इतिहास में अपना विशेष महत्व रखते हैं। कारण कई हैं, जिनमें कुछ कारणों की चर्चा पहले से ही हो चुकी है, कुछ की चर्चा होना आगे बाक़ी है। उनके संबंध में जो कुछ भी तथ्य हमें प्राप्त होते हैं, वे इशारा करते हैं कि वे अपनी जीवितावस्था में काफी चर्चित व्यक्ति रहे होंगे, कुछ कबीर की तरह, कुछ कबीर से भी विशिष्ट! उनके महानिर्वाण के बाद भी वे अपने कर्मों के ज़रिए 'लोक' तथा अपने अनुयायियों में जीवित अवश्य रहे। परोक्ष में भारतीय वाङ्मय के लगभग अधिकांश भाषाओं के भक्तिकाल को सिर्फ प्रभावित ही नहीं किया अपितु रोशनी दिखाते रहे। हिंदी में कबीर आदि निर्गुण, ओड़िया में पंचसखा आदि प्रच्छन्न वैष्णव कवि तथा महाराष्ट्र में ज्ञानदेव आदि संत, सरहपा को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी कविताओं तथा अपने विचारों में आत्मसात् किए हुए थे। फिर हिंदी और ओड़िया में रीतिकाव्य का युग आया। जिस समय तक आते-आते, सरहपा नेपाल तथा तिब्बत की ओर प्रस्थान कर चुके थे। कबीर तथा अन्य संत 'कबीरा-जोगिड़ा' जैसे अश्लील गीतों में सिमट गए थे। पँचसखा चैतन्य तथा वैष्णव धर्म के आवरण में

छिपा दिए गए थे। सरहपा का अस्तित्व भारत से लगभग समाप्त सा हो गया था। उनकी विशेष प्रकार की भाषाएँ, शैलियाँ तथा उनके नाम तक, सभी ने अपनी पहचान खो दी थीं।

बीसवीं शती के प्रारंभ में सरहपा हठात् पूर्वी भारत के साहित्याकाश में बिजली तरह कौंध जाते हैं, जिसकी रोशनी तथाकथित हिंदी, ओड़िया तथा बांग्ला पट्टी पर व्याप्त हो जाती है। इसके लिए हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानों के अथक प्रयास सराहनीय हैं कि सरहपा जैसे सिद्ध भारतीय इतिहास में फिर से अपनी पूर्व पहचान को प्राप्त कर पाते हैं। इनके प्रकाश से एक अचरज यह होता है कि हिंदी समेत पूर्वी भारतीय भाषाओं के जो इतिहासकार, अपने-अपने साहित्य के इतिहास को, 1000 ई. के असपास से शुरू मान रहे थे, उनको दुबारा काल निर्धारण के लिए विवश होना पड़ता है। सरहपा समेत सिद्धों के महत्व को स्वीकारना पड़ता है, अपने-अपने इतिहास को और पीछे आठवीं शती तक ले जाना पड़ता है। किंतु एक समस्या यह आती है कि उनकी यह बेवशी एक शाश्वत विवाद को जन्म देती है, कि सरहपादि सिद्ध किसके हैं, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

सरहपा के नाम से दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं : दोहा तथा चर्यापद। दोहे सामान्यतः दकियानुसी मतों का खंडन करते हैं, वहीं चर्याएँ अनुष्ठानों में गाई जाती हैं। बक़ौल बच्चन सिंह :

"दोहाकोशों के साथ-साथ बौद्ध-सिद्धों ने चर्यापदों की भी रचना की है। ये एक प्रकार के गीत होते हैं, जो सामान्यतया अनुष्ठानों के समय गाए जाते हैं। इन गीतों के लेखक सिद्धाचार्य कहलाते हैं। कुछ चर्याकार योगीश्वर और कुछ अवधूत (जिसके अज्ञान का प्रक्षालन हो चुका हो) कहे जाते थे। दोहों में मतों का खंडन-मंडन होता है, तो चर्यापदों में सिद्धों की अनुभूति और रहस्य भावना। ..."[148]

अतः सरहपा समेत सिद्धों की दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जिनमें द्विवेदी जी को मानें तो दोहे अपभ्रंश में मिलती हैं तो चर्याओं में पूर्वी भारतीय भाषाओं का पूर्व रूप विद्यमान है-

---

[148] सिंह बच्चन, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*,पृ-33

“इसके दोहों की भाषा में परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के रूप ही मिलते हैं, पर पदों में पूर्वी प्रदेशों की भाषा के चिह्न भी मिल जाते हैं। इन चिह्नों को देखकर कभी इस भाषा को बांगला का पूर्व रूप कहा गया तो कभी मैथली और मगही का और कभी भोजपुरी का। कुछ लोगों ने इसमें ओड़िया भाषा का पूर्व रूप भी देखा है।” [149]

द्विवेदी जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ उस बात की ओर इशारा करती हैं, जिससे सरहपा को लेकर विवाद पैदा हुआ है। क्योंकि ‘बौद्धगान ओ दोहा’ में सरहपा के चार गीत संगृहीत हैं तथा उसी में ही ‘सरोरुहवज्र का दोहाकोश’ नाम से एक अलग अध्याय संलग्न है, और उन सभी पंक्तियों में आधुनिक हिंदी, मैथिली, ओड़िया, बांग्ला, असमिया आदि भाषाओं के पूर्व रक्त तथा इनके शब्द, रूप आदि भाषातात्विक अंश, इन भाषाओं की आंचलिक विशेषताएँ न्युनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं, अतः इससे एक भारी अंतर्द्वंद्व का अभ्युदय होता है। इन भाषाओं के विद्वान आज के आंचलिक चश्में लगाकर आज से हज़ार वर्ष पुराने कवि की पंक्तियों को पाठ कर, उन्हें तथा उन पंक्तियों को लिखने-बोलने वाले सिद्ध-कवि सरहपा को एकछत्र अधिकार में लेने की कोशिश कर बैठते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण ‘बौद्धगान ओ दोहा’ में भी है, जिसका शीर्षक शास्त्री जी ने ‘हज़ार वर्ष की पुरानी बांग्ला : बौद्धगान ओ दोहा’ रखा है तथा ‘सरोजवज्रेर बांग्ला दोहाकोष : अद्वयवज्रेर संस्कृत टीका पर’ लिखकर सरहपा का बंगालीकरण किया है। बांग्ला के संदर्भ में उनकी व्याख्या की है।[150]

इसके बाद ओड़िया तथा हिंदी के इतिहासकारों ने सरहपा को अपनी विरासत घोषित करने की भरसक कोशिश की है। यह सिद्ध करने के लिए की सरहपा उनके हैं, उन्होंने न सिर्फ सरहपा की पंक्तियों में अपने अधिकार को कायम करने की चेष्टा की है, अपितु इसके लिए विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर सरहपा की जन्म तथा कर्मभूमि को स्वयं के अंचल में सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस अध्याय में

[149] द्विवेदी हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका* पृ. 49

[150] देखें, शास्त्री हर प्रसाद, *बौद्धगान ओ दोहा*

तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, विभिन्न विद्वानों के साक्ष्यों तथा कुछ और आंतरिक-बाह्य साक्ष्यों के आधार पर सरहपा के जन्म व कर्म भूमि को जानने की कोशिश किया जाएगा।

सिद्ध- योगी तथा संत ये सभी जन्म से नहीं अपने कर्म से अमर होते हैं। उनके लिए यह मायने नहीं रह जाता कि उनका जन्म कहाँ हुआ था, अपितु यह मायने रहता है कि उन्होंने ऐसा क्या कर्म किया कि आगत युग उनका अनुसरण करेगा।[151]

वे कहीं एक जगह ठहरते भी नहीं थे। जैसे कि 'भारतीय साहित्य के निर्माता: गोरखनाथ' पुस्तक के रचयिता नागेंद्रनाथ उपाध्याय मानते हैं-

"गोरखनाथ जैसे *सिद्ध महापुरुष* के समय के विषय में सोचना और निर्णय करना अत्यंत कठिन कार्य है। कारण कई हैं। इनके संबंध में जितनी भी सूचनाएँ मिलती हैं, अधिकांश किंवदंतियों, कथाओं, चमत्कारों, विश्वासों से परस्पर बहुत विरोध है। गोरखनाथ का व्यक्तित्त्व इतना लोकप्रिय, महिमाशाली और प्रभविष्णु हो गया है कि किसी भी स्तर, क्षेत्र और रूप पर लोक-विश्वास में उसने अपनी गहरी छाप छोड़ रखी है। सांप्रदायिक रीतियों, नीतियों और पद्धतियों की दृष्टि से विचार करने पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि संन्यास ग्रहण कर लेने पर व्यक्ति के पूर्वाश्रम की चर्चा करना लोग अनुचित समझते हैं।... नाथ संप्रदाय दो प्रकार की परंपरा की चर्चा करता है- नाद परंपरा और बिंदु परंपरा। योगी की परंपरा नाद परंपरा में स्वीकृत है, जबकि सांसारिक लोगों की बिंदु परंपरा में गणना की जाती है। इस नाद परंपरा में गुरु का कुल ही शिष्य का कुल होता है, जिसका सिधा संबंध दीक्षा से है। दीक्षा एक प्रकार से पुनर्जन्म है। इस लिए पूर्वाश्रम की चर्चा करना व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में यदि कोई गोरखनाथ के सांसारिक जीवन, उनके पूर्वाश्रम और दीक्षा-पूर्व जीवन की कोई सूचना प्रप्त करना चाहे तो निश्चय ही उसे सफलता मिलनी कठिन है।"[152]

---

151 आपणे रचि-रचि भव निर्वाणा/ मिछे लोअ बंधाबए अपणा/ अम्हे ण जाणु अचिंत्य जोई/ जाम मरण कइसन होई/ जामे काम कि कामे जाम/ सरह भणइ अचिंत्य सो धाम... महापात्र खगेश्वर, *चर्या गीतिका*, पृ- 116

152 उपाध्याय नागेंद्रनाथ, *भारतीय साहित्य के निर्माता, गोरखनाथ*, पृ- 7

उपर्युक्त बातें यद्यपि गोरखनाथ के लिए प्रयुक्त हुई हैं, किंतु तथापि ये सरहपा समेत उन सभी संतों, सिद्धों तथा योगियों के लिए बखूबी लागू होती हैं। सरहपा तथा गोरखनाथ में कई बातें समान ही हैं। नाथ-पंथ सिद्धों से निकला हुआ माना जाता है। यहाँ तक कि रणजीत शाह ने अपनी पुस्तक में लिखा है- "... कदाचित् यह प्रश्न उठता है कि शैव प्रभावान्वित नाथ सिद्धों के आदि नाथ कहीं सरहपा तो नहीं- ..." [153] इसपर विचार करना अभी शेष है।

अतः गोरखनाथ से संबंधित ये बातें, कुछ मात्रा तक सरहपा को भी व्याख्यायित करती हैं। सरहपा को लेकर जितने भी साक्ष्य उपलब्ध हैं, वे सब गोरखनाथ की तरह, किंवदंतियों तथा लोक कथाओं के आश्रित भी हैं और एक दूसरे से परस्पर इतने भिन्न हैं कि कोई एक निष्कर्ष पर पहुँचना अत्यंत कठिन है। सरहपा का आविर्भाव आज से क़रीब हज़ार साल पूर्व हो गया था। वे वज्रयान-तंत्रयान के प्रमुख तथा अग्र-प्रचारक रहें। उन्होंने गुरु को वरीयता दी। कई मायनों में वे अनुकरणीय थे तथा उनकी शिष्य-परंपरा चली। उनके संबंध में जो कुछ भी तथ्य उपलब्ध होते हैं, वे उनकी मृत्यु के कई सौ वर्षों बाद, अलग-अलग समयों में उनके अनुयायियों द्वारा उपलब्ध होते हैं, जैसे अद्वयवज्र की टीका(क़रीब 12 वीं शती), तारानाथ का वृतांत (16-17 वीं शती) आदि। दरअसल यह पक्का नहीं कहा जा सकता सरहपा के नाम से प्राप्त होने वाली रचनाएँ तथा उनकी पंक्तियों में कितनी उनके मुख-निःसृत हैं तथा उनमें कितने प्रक्षेप अंश जुड़ गए हैं। इसके अलावा सरहपा भी गोरखनाथ की तरह इतने लोकप्रिय, महिमाशाली और प्रभविष्णु हो गये हैं कि कई समय, भाषा, संस्कृति, क्षेत्र तथा रूप पर लोक-विश्वास में उन्होंने अपनी गहरी छाप छोड़ रखी है। सांप्रदायिक रीतियों, नीतियों और पद्धतियों की दृष्टि से विचार करने पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि संन्यास ग्रहण कर लेने पर व्यक्ति के पूर्वाश्रम की चर्चा करना लोग अनुचित समझते हैं। सरहपा ने भी सिद्धि प्राप्ति की थी। उसके पश्चात् उनसे संबंधित सभी

---

[153] शाह रणजीत, *सहज सिद्ध साधना*, पृ- 19

चीजों में बदलाव आए हैं। जैसे नाम- राहुलभद्र से सरहपा आदि। अतः सरहपा से संबंधित उनके तिरोधान के कई सौ सालों के पश्चात् की बातें कितनी प्रामाणिक हैं, यह कह पाना मुश्किल है। आज सरहपा से संबंधित एक भी प्राथमिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, उनका आंचलिकीकरण कर, केवल अपनी धरोहर सिद्ध करना कितना सही हो सकता है? सरहपा का जन्म चाहे कहीं भी हुआ हो, वे सिद्ध थे**(साधनावस्था में साधक योगी रहेगा, किंतु साधनाओं के पार सिद्ध हो जाएगा।)**[154]वे जन्म, कर्म आदि चीज़ों से ऊपर उठ चुके थे। उन्होंने जन्म तो दो हाथ की ज़मीन में ली होगी, किंतु संपूर्ण पूर्वी भारत, कुछ मात्रा में उत्तर तथा मध्य भारत तथा महाराष्ट्र तक की भूमि उनकी कर्मभूमि थी। उन्होंने अपनी वाणियों को कहने के लिए जिस भाषा का इस्तेमाल किया है, जिन प्रतीकों- बिंबों, छंदों, रसों, अलंकारों आदि काव्यांगों का उपयोग किया है, वे सब आज की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की धरोहर हैं, जिनमें सरहपा की पंक्तियों के असंख्य शब्द हूबहू या कुछ मात्रा में फैर बदल होकर आज भी लोक तथा साहित्य में व्यवहृत हो रहे हैं। अतः सरहपा हम सब की धरोहर हैं। लगभग सभी पूर्वी भारतीय भाषाओं के आदि कवि हैं। हिंदी, ओड़िया तथा महाराष्ट्र तक के भक्तिकाल के प्रेरणास्रोत हैं। सभी को उन्हें अपना कहने का अधिकार है, किंतु 'सिर्फ अपना कहने' की कोई वैज्ञानिकता नहीं दिखती। एक कवि के रूप में, वे हम सबके हैं, उससे भी बढ़कर मार्गदर्शक के रूप में। किंतु क्योंकि यहाँ जन्म स्थान को लेकर बात चल रही है, अतः उसपर विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों से गुजर कर सिंहावलोकन करना समीचीन होगा, कि क्या कोई साक्ष्य मिल सकता है, उनके जन्मस्थान के संबंध में?

हिंदी के कई विद्वान उनका जन्म हिंदी प्रदेश में मानते हैं, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। ओड़िया के विद्वान कई साक्ष्यों के जरिए उनका जन्म उड़िशा से सिद्ध करते हैं। समस्या यह है कि सरहपा

---

[154] सिह बच्चन, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, पृ-31

के ओड़िशा से संबंध को हिंदी के डॉ. भारती और रणजीत शाह जैसे शोधकर्ता तो ग्रहण करते हैं, किंतु इतिहासकार- डॉ. नगेंद्र संपादित इतिहास के आदिकाल के लेखक डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश, शिवपूजन सहाय आदि तथा पाठक ग्रहण नहीं करते। इसका एक कारण तो आंचलिकतावादी दृष्टिकोण है, हिंदी के महत्त्वपूर्ण शोधों का लोकादृत न हो पाना, और एक कारण ओड़िया के तथ्यों का हिंदी तक न पहुँच पाना है, जो अनुवाद की समस्या के कारण घटित हुआ है। सरहपा से संबंधित कई तथ्य त्रुटिपूर्ण हैं, किंतु इतने बद्धमूल हो चुके हैं कि नवीन मान्यताओं को ग्रहण करने की कोशिश तथा साहस कोई नहीं करता। विद्वान तथा पाठक डरते हैं कि कहीं वे सरहपा को अपनी गिरफ़्त से खो न दें! वे ये भूल जाते हैं कि सरहपा की अपनी सत्ता है। वे आज के नहीं तब के सिद्ध कवि हैं, जब ये भौगोलिक सीमाएँ अस्तित्व में नहीं थीं।इस अध्याय में एक कर्तव्य को पूरा करने की कोशिश की जाएगी कि सरहपा का संबंध हिंदी तथा बंगाल की तरह आज की ओड़िया मिट्टी से भी है,ओड़िया के विद्वानों के द्वारा प्रदत्त तथ्यों की छानबीन होगी। ओड़िया के विद्वानों की खोजों को आधार बनाकर, उनकी आवाज़ को हिंदी तक पहुँचाने के निमित्त एक सेतु मात्र बनने की कोशिश होगी।

हिंदी में सरहपा के जन्म स्थान को लेकर राहुल जी की मान्यता को मान लिया गया है, जो ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधारित नहीं है, अनुमानाश्रित है। इस पर थोड़ी सी चर्चा पहले कर ली गई है। अब हम व्यापकता से चर्चा करेंगे।

पहले अध्याय में राहुल जी तथा धर्मवीर भारती जी आदि एवं द्वितीय अध्याय में तारानाथ तथा 'पाग साम जान जान' आदि ग्रंथों के अनुसार यह चर्चा हो चुकी है कि सरहपा का जन्म कहाँ हुआ था। उसका संक्षेप में सिंहावलोकन ज़रूरी है। राहुल जी ने तथा ओड़िया के विद्वानों ने लामा तारानाथ, 'पाग साम जान जान' तथा 'सुम्प म्खन पो' आदि के तथ्यों को आधार बनाया है। राहुल जी ने 'सुम्प म्खन पो' के आधार पर सरहपा के जन्म स्थान को 'राज्ञी नगरी' बताते हुए, उसे भागलपुर के आस पास कहीं अनुमान किया है। इसके लिए उन्होंने कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं दिया है। इस बात की चर्चा हो

चुकी है कि राहुल जी की भागलपुर संबंधी अवधारणा ऐतिहासिक नहीं है।उनका जी ऐतिहासिक छानबीन से अधिक ऐतिहासिक दस्तावेजीकरण पर अधिक लगा है। उन्हें कम समय में बहुत कुछ करने की ललक थी। इसका प्रमाण निम्नलिखित पंक्तियों में छिपा हुआ है :-

"एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि राहुल जी की इतिहास दृष्टि में एक समस्या यह है कि वे शोध नहीं करते थे और उनकी अधिकांश बातें वे अपने हिसाब से करते थे। (यशस्वी आलोचक रामविलास शर्मा से लेकर उनके मित्र और सहयोगी रहे महादेव साह ने इसी तरह की बातें कई प्रसंगों में की हैं ।) वे आधुनिक शोधार्थी की तरह हर तथ्य की वैसी जाँच न कर पाते होंगे, पर उनको बहुत कुछ कह सकने की हड़बड़ी थी और वे जिस चीज़ से निर्देशित थे, वह इतिहास का 'स्वीप ऑफ इमेजिनेशन' थी। यह उनकी सीमा भी है और शक्ति भी। वे शुद्ध इतिहासकार नहीं थे। राहुल अकादमिक विद्वानों की तरह अकादमिक जगत् की पद्धतियों में ज़्यादा उलझे रहने के बजाय काम की बातें निकलते हुए सहज तरीक़े से निष्कर्ष निकाल लेते थे। वे सहज भाषा में लिखते थे। सबको उनकी बातें समझ में आती थीं।"[155]

दरअसल राहुल जी की अपनी सीमा थी। उन्होंने ताउम्र यायावर का जीवन बिताया। अपनी जान की बाजी लगाकर, उन्होंने कई विलुप्तप्रायः कवियों तथा ग्रंथों को न सिर्फ खोज निकाला, अपितु उनका संपादन भी किया। महज 70 साल की उम्र में उन्होंने जितनी रचनाओं का जीर्णोद्धार किया है, उसके लिए संपूर्ण भारतीय वाङ्मय उनका हमेशा के लिए ऋणी रहेगा। उनको मानो एक नशे सा था या फिर एक दैवी कर्तव्य प्राप्त हुआ था कि वे दुर्लभ किताबों का उद्धार करें। **अतः उनको शुद्ध इतिहासकार न मानने से भी इतिहास के अदम्य-उद्धारकर्ता मना जा सकता है।**'दोहाकोश' की भूमिका में शिवपूजन जी लिखते हैं-

[155] *सामाजिकी*, अक्टूबर- दिसम्बर, राष्ट्रीय और इतिहास दृष्टि राहुल सांकृत्यायन का संघर्ष, हितेंद्र पटेल, पृ- 24-25

"साहित्यिक गवेषणा के क्षेत्र में उनके अनुसंधानों ने जो प्रकाश फैलाया है, उससे युगों का घनीभूत अंधकार तिरोहित हुआ है। ... श्री राहुल जी की तरह 'मिशनरी स्पिरिट' से काम करने वाले यदि और भी दो चार व्यक्ति हिंदी में होते, तो साहित्यिक शोध के क्षेत्र में आज अनेक विस्मयजनक कार्य हुए रहते। ... राहुल जी को सच्चे अनुयायी के रूप से अभी तक निष्ठावान् सहायक नहीं मिले हैं।"[156]

यह सत्य है कि राहुल जी में मिशनरी स्पिरिट विद्यमान थी। वे जीवन के एक भी पल गवाना नहीं चाहते थे। इस बात का प्रमाण निम्नलिखित बातों से मिल सकता है, जो 'दोहाकोश' के लेखन के संबंध में कमला सांकृत्यायन ने कहा है-

"किसी ग्रंथ को लिखने के लिए वे पहले से ही योजनाएँ नहीं बनाते थे। मन में जो विचार आए, उन्हीं को लेखनी बद्ध करना शुरू कर देते थे। मुझे एक दिन अपने पुस्तकालय में प्राचीन तालपत्र के कुछ पन्ने मिले। मैंने वे पन्ने पंडित जी को दिखलाए, तो यह मालूम हुआ कि ये 8 वीं सदी के सिद्ध कवि सरहपाद के दोहे के पृष्ठ हैं, जिन्हें पंडित जी तिब्बत से लाकर भूल चुके थे। यह 1954-55 की बात है... तीन महीने के कठिन परिश्रम से 'दोहाकोश' नामक विशाल ग्रंथ तैयार करने के बाद ही आराम किया। इस 'दोहाकोश' पर वे किसी पुरस्कार को पाने की आशा रखते थे, परंतु लोगों का ध्यान इस ओर नहीं गया।"[157]

उपर्युक्त पंक्तियों से ध्यान से गुजरने से कई तथ्य सामने आते हैं। अपनी कुछ ऐतिहासिक कमियों के बावजूद, निस्संदेह ही 'दोहाकोश' एक दुर्लभ तथा उत्कृष्ट कृति है। जिसके लिए उन्हें पुरस्कार की आशा थी, किंतु हर एक बड़े कवि-लेखक को उनके हिस्से का सम्मान नहीं मिलता है। राहुल जी भी वंचित रह गए। लेकिन सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि राहुल जी ने 'दोहाकोश' को तैयारी

---

[156] दोहाकोश की भूमिका

[157]कमला सांकृत्यायन, 1997,पृ- 12-13, *सामाजिकी*, पृ-27

के साथ संपादित करने को नहीं जुटे थे। वे तो भूल ही गए थे। कमला जी कहती हैं, कि किसी कार्य को करने के लिए वे योजना नहीं बनाते थे, बल्कि मन में जो विचार आए वे उन्हीं को लेखनी बद्ध कर देते थे। जहाँ मन के विचार स्वच्छंद होते हैं, वहीं ऐतिहासिक कृतियाँ वैज्ञानिक छानबीन की माँग करती हैं। अतः सरहपा के जन्म संबंधित (जबलपुर) उनकी धारणा मन के विचार केंद्रित हैं, जो अनुमानाधरित हैं। डॉ. शिवप्रसाद सिंह भी यही मानते हैं।[158] दर असल उन्होंने सरहपा के जीवन वृत्त को बताते वक्त अधिकांश जगह 'शायद', 'होगा' जैसे शंका आधारित शब्दों का इस्तेमाल किया है, जो वैध्य नहीं हो सकते। यह तो तय है कि राहुल जी ने अधिक छानबीन नहीं की थी, जो उनकी फितरत के अनुकूल भी है। किंतु अधिकांश आगे के विद्वान का छानबीन किए बिना राहुल जी के तथ्यों को यथातथ्य ग्रहण कर लेना कहाँ तक युक्ति संगत होता है? यह विचारणीय है।

यह तय है कि सरहपा से संबंधित अधिक प्राथमिक स्रोत नहीं मिलते। रचनाएँ भी सांप्रदायिक हैं और सरहपा के द्वारा नहीं लिखी गई हैं। अतः उन रचनाओं से कुछ भी साक्ष्य की आशा करना ग़लत है। सरहपा के जन्म को लेकर एक परिकल्पना राज्ञी का जबलपुर के निकट होना ऐतिहासिक नहीं है। अब हम दूसरे स्रोतों की ओर ध्यानाकर्षण करते हैं।

प्रश्न उठना लाजमी है कि यह 'राज्ञी नगरी' आधुनिक काल में कहाँ ठहरता है? इसके लिए कुछ और साक्ष्यों से गुजरना होगा। तारानाथ तथा अन्य तिब्बती अनुश्रुति सरहपा का जन्म 'ओडिविसा' यानी ओड़िशा में हुआ (Mystic tales of Lama Taranath) मानते हैं। 'पाग साम जाग जोन' तथा 'सुम्प म्खन पो' में उनका जन्म 'राज्ञी नगरी' में हुआ कहा गया है, जो पूर्व दिश में विद्यमान है। क्या ये सारे तथ्य एक ही जगह की ओर इशारा कर रहे हैं? भारत की भौगोलिक अवस्थिति को देखने से ओड़िशा पूर्वी दिशा में स्थित है। एक अनुश्रुति का ओड़िशा कहना व्यापक भूगोल को दर्शाता है,

[158] दोहाकोश(सं राहुल सांकृत्यायन) की समीक्षा का अंश, नागरी प्र. पत्रिका, वर्ष 62, अंक 4, संवत् 2014, पृ- 240, *सहज सिद्ध साधना विमर्श*, रणजीत शाह, पृ- 17

तो दूसरी अनुश्रुति का पूर्वी दिशा की राज्ञी नगरी कहना विशेष भूगोल को। अब प्रश्न उठता है कि क्या ओड़िशा में राज्ञी नगरी या उसके अवशेष विद्यमान हैं? इसका उत्तर ढूँढने से पूर्व, मैं 'सिद्ध साहित्य' कृति के रचयिता धर्मवीर भारती के द्वारा नालंदा तथा विक्रमशिला पर दिए गए कुछ तथ्यों को उद्धृत करना समीचीन समझता हूँ।

"सरहपा, नागार्जुन, मैत्रीगुप्त, विरूपा आदि कितने ही सिद्धाचार्य नालंदा के आचार्य रहे हैं। नालंदा के विषय में बहुत खोज हो चुकी है और हमें उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। यह गौतम तथा महावीर के पहले से ही विद्या का प्रख्यात केंद्र था।... बख्तियार खिलजी ने इसका विनाश किया... इसका खंडहर बिहार प्रांत में बिहार शरीफ के निकट पाए गए हैं।... विक्रमशिला या विक्रमशील विहार पाल राजाओं ने स्थापित किया था और तंत्रों की शिक्षा और प्रचार विक्रमशील में अधिक हुआ है। विक्रमशील की स्थापना धर्मपाल ने की थी। मगध में पर्वत शिखर पर यह विहार था, ... नेपाली दंतकथाओं में विक्रमशील काशी के निकट बताया गया है। किंतु अनुमान यह किया गया है कि विक्रमशील भागलपुर के निकट पाथरघाट नामक स्थान में था, किंतु अभी इसका निर्णय नहीं हो पाया है।"[159]

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि मैंने राज्ञी नगरी के प्रतिपादन के पूर्व नालंदा तथा विक्रमशील के विषय में यह विवरण क्यों दिए, ये एक दूसरे से क्या संबंध रखते हैं? जी, हाँ, इनका संबंध है। क्योंकि राज्ञी नगरी की ऐतिहासिकता तथा उसकी भौगोलिक अवस्थिति का प्रतिपादन उपर्युक्त दोनों तथ्यों के प्रतिपादन के साथ जुड़ा हुआ है। इसका करण है- इतिहासकारों ने **नालंदा तथा विक्रमशील** जैसे ऐतिहासिक अवशेषों को कुछ तथ्य कुछ अनुमान आधारित यह निर्धारित किए हैं कि ये नालंदा या विक्रमशील हो सकते हैं, वैसे ही राज्ञी की आधुनिक अवस्थिति निर्धारित की जा सकती है।

---

[159] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 42

सरहपा तंत्रयान के मुख्य प्रचारकों में सर्व प्रमुख हैं(... चक्रसंवर तंत्र (दंपल-खोरलो-ब्दे-म्छोग) में सरह को आदि सिद्ध माना गया है...)। पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर भारत में कुल दो राज्यों में प्रमुख रूप से तंत्रपीठ पाए जाते हैं- मध्यप्रदेश तथा ओड़िशा। मध्यप्रदेश **के दुदाही, बादोह, भेड़ाघाट, मिटाउली, खजुराहो तथा ओड़िशा के बलांगिर के राणीपुर-झरिअल(विद्वानों के अनुसार राज्ञी नगरी का तद्भव रूप राणीपुर है) तथा भुवनेश्वर के हिरापुर** में। इनमें रानीपुर सरहपा के संबंध में अपना विशेष महत्त्व रखता है। राणीपुर नगरी पुरातन समय में राज्ञी नगरी नाम से प्रसिद्ध थी-

"कई आलोचकों के मत से उनका जन्म-स्थान(सरहपा का) राज्ञी नगरी या आधुनिक राणीपुर है, जो ओड़िशा के बलांगिर ज़िले में अवस्थित है। यहाँ प्राचीन काल से चौंसठ योगिनी मंदिर स्थित है, जिस कारण यह एक प्रसिद्ध तांत्रपीठ के रूप में प्रसिद्ध है और तंत्र साधकों के लिए उपयुक्त स्थान है। ये जगह वज्रयान का एक प्रधान अंग था। अब भी अनेक बौद्ध कीर्ति यहाँ देखने को मिल जाते हैं। "[160]

चौंसठ योगिनी का मुक्ताकाश मंदिर रानीपुर में विद्यमान है, जो इस बात का साक्षी है कि पुरातन काल में यह तंत्र साधना की मुख्य स्थली थी। इसमें कुछ बुद्ध मूर्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। बलांगिर बौद्ध, सोनपुर तथा संबलपुर के निकट अवस्थित है। ऐतिहासिकों का मानना है कि यह दक्षिणी कोशल नगरी के प्रमुख स्थल रहे हैं, जिनमें राणीपुर नगरी रनीवास के लिए बनाई गई थी। उत्खनन के बाद रानीपुर, बौद्ध, सोनपुर(सुवर्णपुर/लंकापुर) तथा संबंलपुर में बौद्ध व तांत्रिक अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये सभी स्थान अतीत में तांत्रिक बौद्ध धर्म से जुड़े हुए थे। विशेष बात यह है कि रानीपुर झरिआल का अतीत नाम राज्ञी नगरी था और यहाँ सरहपा के जन्म होने की संभावना ओड़िया के विद्वान करते हैं। सरहपा में जो तांत्रिक गुण विकसित हुए थे, वह इस स्थान की तांत्रिकता के प्रभावित थे। पहले इसकी चर्चा हो चुकी है कि कुछ परंपराएँ मानती हैं कि सरहपा ने लक्ष्मीकरा से तंत्र की तालिम ली थी, जो सहजयान

[160] महारणा सुरेंद्र कुमार, चर्यागीति, पृ- 80

की प्रवर्तक मानी जाती है।लक्ष्मीकरा भी ओड़िशा से जुड़ी हुई हैं। बताया जा चुका है कि सरहपा ने तंत्र का प्रणयन नहीं किया था, असंग के समय से प्रच्छन्न रूप से प्रचलित तंत्र को मुक्त किया था(विनयतोष जी ने अपनी पुस्तक में वैदिक तथा बौद्ध युग से प्रचलित तंत्र की बात की है)। तंत्रपीठों के संबंध में ध्रमवीर भारती जी की निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"अधिकांश तंत्रपीठ उन प्रांतों में हैं, जो बहिरंग प्रदेश माने जाते हैं और पूर्वागत आर्य जातियों के निवास स्थल हैं। महाराष्ट्र तथा उत्तर पश्चिमी भारत, बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि सभी प्रदेश बहिरांग प्रदेश हैं। यह तथ्य हमें ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि तंत्रों के विकास तथा व्रात्यों और बहिरंग आर्यों, अनार्य अनुष्ठानों और अथर्व वेद का बड़ा निकट संपर्क है..."[161]

तांत्रिक बौद्धों तथा वज्रयानी सिद्धों की अधिष्ठात्री देवी वज्र वराही तथा कुरुकुल्ला हैं। इनकी मूर्तियाँ केवल ओड़िशा से प्रप्त हुई हैं (डॉ. मायाधर मानसिंह), जो भुवनेश्वर तथा कलकाता आदि के संग्रहालयों में सुशोभित हो रही हैं। पुरी-कोणार्क से महज़ 8 किलो मिटर दूरी पर एक गांव है, जिसका नाम 'चौरासी' है। यह गांव चौरासी सिद्धों से संबंधित हैं। वहाँ मत्स वराही का मंदिर विद्यमान है। वहाँ बुद्ध मूर्तियों के अवशेष पाए गए हैं।[162] ओड़िशा में वज्रगिरि नामक एक पहाड़ी है, जहाँ से प्रचुर मात्रा में बौद्ध अवशेष प्राप्त हुए हैं। ओड़िया भक्तिकाल के साहित्य में ओड्डीयान, चौरासी और चौंसठ संज्ञा से कई स्थानों का वर्णन मिलता है। 'ओड़िया साहित्य र इतिहास' पुस्तक में प्रो. बंशाधर महांति ने इस विषय में लिखा है-

"प्रतीन ओड़िया साहित्य में उड्डीयन बंध और ओड़ियाण शब्द का उल्लेख स्थानविशेष के लिए हुआ है। उस तरह पूर्णगिरि, काउँरीमंडल श्रीहट्ट पाटणा और जालंधक बांध का उल्लेख अच्युतानंद, यशोवंत, बलराम, जगन्नाथ तथा अनंत आदि ने अपनी रचनाओं में किया है। इसके अलावा सारलादास

---

161 भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*,पृ- 41

162 Rath Santosh Kumar, *Kuruma, A lesser known Buddhist site of Orissa*, Orissa Review, April-2005

के महाभारत में कांउरीमंडल, .. आदि का उल्लेख और योग साधना की प्रणालियों के पूर्ववर्ती बौद्धगान ओ दोहा की संस्कृति के साथ ओड़िशा का घनिष्ट संबंध के बारे में दिखाई देता है।" [163]

हिंदी के विद्वान धर्मवीर भारती ने अपनी पुस्तक 'सिद्ध साहित्य' में कई अन्य विद्वानों के साक्ष्यों के अनुसार ओडिवीसा को ओड़िशा तथा ओडियान को पश्चिमोत्तर भारत में स्थित स्थान से संबंधित माना है, सरहपा का संबंध ओडियान से था। वे लिखते हैं-

"अंतिम तथा सबसे महत्वपूर्ण सिद्धपीठ ओडियान था, जिसकी भौगोलिक स्थिति के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। ओडियान का उल्लेख चौथे चर्यापद में तो है ही, सरहपा का भी संबंध ओड़ियान से था, इसका संकेत त्रैलोक्यवशंकर लोकेश्वर की साधना में मिलता है, जहाँ इस साधना का प्रवर्तक सरहपा को बताया गया है और उसकी गणना ओडियान क्रम में की गई है। वज्रयान तथा तांत्रिक साधनाओं का बड़ा घनिष्ठ संबंध ओडियान से रहा है।"[164]

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ एक तरफ सरहपा का जन्म ओडिवीसा(ओड़िशा या किसी पूर्वी प्रांत) में बताया जाता है, वहीं उनकी साधना का केंद्र ओडियान (पश्चिमोत्तर प्रांत) माना गया है। यह बहुत बोझिल बात है। कारण की चर्चा आगे होगी। धर्मवीर जी आगे लिखते हैं-

"ओडियान के राजा इंद्रभूतिपाद तथा उनकी बहन लक्ष्मीकरा वज्रयान के प्रख्यात् आचार्यों में से थे। ... तिब्बती अनुश्रुतियों में लुईपा को उद्यान (ओडियान) के राजा को कायस्थ बताया गया है। मरुप्रदेश के आचार्य महापद्मवज्र ने भी ओडियान में जाकर महासिद्धि लाभ किया था। इसके अतिरिक्त अश्वपाद, वज्रघंटा कमलाम्बरपाद, बुद्ध श्रीज्ञान, बुद्ध श्रीशांति, ललितवज्र तथा शांतिगुप्त आदि बौद्ध

---

[163] महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ-73

[164] भारती धर्मवीर, *सिद्‌ध साहित्य*, पृ- 40

तंत्राचार्यों ने या तो ओडियान में जाकर साधना की थी, या वहाँ से बहुत गुह्यतंत्र लाए थे और पूर्वी देशों में उनका प्रचार किया था।..." [165]

यानी ओडियान कोई मरु प्रदेश है, जो भारत के पश्चिम दिशा में अवस्थित है। यह तथ्य कितना सही है, उसपर भारती जी तथा विभिन्न ओड़िया विद्वानों के साक्ष्यों के आधार पर बात होगी। भारती जी ने लिखा है-

"महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने ओडियान को ओड़िशा माना है। उन्हीं के अनुसरण में श्री राहुल सांकृत्यायन तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी इंद्र को ओड़िशा का राजा माना है। किंतु तारानाथ ने स्पष्ट ओड़िशा का पृथक उल्लेख किया है। उसके लिए ओडिवीसा शब्द का प्रयोग किया है। साथ ही उद्यान या ओडियान को पश्चिमी प्रांत बताया है।"[166]

उपर्युक्त बातों की चर्चा मैंने पहले ही कर दी है, कि कैसे ओडिवीसा तथा ओडियान को लेकर तारानाथ स्वयं संशय में हैं। डॉ. विनयतोष जी उडियान को बांगला या असाम में स्थित मानते हैं तथा डॉ. बागची उसे पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही स्थित होने का समर्थन करते हैं। भारती जी लिखते हैं-

"इसके लिए उन्होंने(बागची जी) चीनी ग्रंथों, हेवज्रतंत्र तथा रोमक सिद्धांत कुशान काल के शिलालेखों के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।साथ ही इंद्रभूति, लक्ष्मीकरा, शांतरक्षित तथा पद्मसंभव के पारिवारिक संबंधों पर प्रकाश डालते हुए डॉ. बागची ने शांतरक्षित के जन्म स्थान जोहर को भी पाश्चात्य प्रदेश में बताया है।... शांत रक्षित जहोर के निवासी थे, जहाँ कि लंकापुरी नामक धर्मस्थल था...।"[167]

---

[165] वही

[166] वही

[167] वही,पृ-40

इस तरह डॉ. बागची तथा भारती जी ने ओडियान, जहोर तथा लंकापुरी को भारत के पश्चिमोत्तर भाग में कहीं स्थित माना है। लंकापुरी भी तंत्रयान का प्रमुख केंद्र माना गया है। लंकापुरी के संबंध में विवरण प्रस्तुत करते हुए डॉ. भारती जी ने निम्नलिखित तथ्यों को उपस्थापित किया है।

"इस लंकापुरी का उल्लेख चर्यापदों में भी मिलता है। ***सरहपा वज्र मार्ग का परित्याग कर सहज पथ ग्रहण करने का उपदेश करते हैं और समीप ही बोधि प्राप्त करने के बाद लंका जाकर साधना करने को व्यर्थ मानते हैं।*** यदि यह लंका (जहोर) बंगाल में ही होता तो सरहपा ने जो पूर्वी भारत में चर्यापद गाए, वे इसका उल्लेख दूरवर्ती स्थान के रूप में न करते। बाह्य प्रमाण भी ऐसे मिलते हैं, कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में लंका नामक कोई प्रांत अवश्य था। ह्वेनसांग उसी प्रदेश में लंग- कि-लो नामक प्रदेश का वर्णन करते हैं, जहाँ सौ से अधिक बौद्ध विहार थे। डेरागाज़ी खाँ में भी लंग नामक उपजाति बसी है, जो मूलतः जाट माने जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि चर्यापद में उल्लिखित लंका, सिंहलद्वीप या बंगाल का कोई स्थान न होकर ओडियान के पास पश्चिमोत्तर प्रदेश का कोई भूभाग था। लेवी तथा वैडल ने भी ओडियान को पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्थित माना है। तिब्बती अनुश्रुतियों में ओडियान प्रदेश के दो भाग माने गए हैं, एक शंभल और दूसरा लंकापुरी। शंभल का राजा इंद्रभूति था और संकापुरी का जलेंद्र। जलेद्र के पुत्र से लक्ष्मीकरा का विवाह हुआ था। बौद्ध तंत्र में शंभल को सीता नदी के तट पर मानना गया है और तंत्रों का प्रथम उपदेश भी वहीं माना गया है।"[168]

सरहपा की जिस पंक्ति में लंका की बात हुई है, वह पश्चिमोत्तर प्रदेश में कहीं स्थित 'लंग' नामक उपजाति की निवास भूमि है? सरहपा ने जिस लंका की बात की है कि देह में ही बुद्ध निवास करते हैं, उनके दर्शन के लिए लंका जाने की आवश्यकता नहीं है, वह सिंहल द्वीप के अन्य नाम लंका से संबंधित है। इसके कुछ आधार हैं। लंका या श्रीलंका बौद्ध धर्म के सर्वप्रमुख पवित्र स्थलों में से एक है। पुरातन समय में भारत के बौद्ध, गौतम बुद्ध के अवशेष के दर्शन निमित्त लंका जाया करते थे। बौद्धों के लिए

---

[168] वही, पृ-41

वह एक तीर्थ की तरह था। अतः सरहपा ने तीर्थाटन को व्यर्थ बताते हुए, अपनी देह के अंदर झांकने की बात की है। कबीर आदि संतों ने भी ऐसी कई पंक्तियाँ कही हैं- ‘‘घट-घट राम है’’ तथा ‘‘मौको कहाँ ढूँढे रे बंदे’’ आदि। अतः लंका का श्रीलंका होना अधिक संभव है, तीर्थस्थली के अर्थ में। ओड़िया के विद्वानों ने लंका को ओड़िशा में स्थित मानने के लिए कुछ तथ्य दिए हैं, जिन्हें भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि अगर हम लंग को लंका मान सकते हैं तो सुवर्णपुर(लंका का दूसरा नाम, तथा ओड़िशा के प्रमुख बौद्ध अवशेष स्थलियों में एक) क्यों नहीं मान सकते हैं। ‘‘...एक दूसरी सूचना के अनुसार, उड़ीसा के राजा की कन्या लक्ष्मींकरा की सहायता से उन्होंने (सरह) वज्रयोगिनी साधना एवं गुह्योपासना का प्रचार-प्रसार किया था।...।[169] यानी लक्ष्मीकरा संभलक की पुत्री और इंद्रभूति की बहन है और ये सब पुरातन ओड़िशा के थे।

सबसे बड़ी बात प्रत्नतात्विक उत्खनन भी यही इशारा करते हैं और तिब्बती अनुश्रुतियाँ भी। ओड़िया के उन विद्वानों में डॉ. करुणाकर कर विशेष हैं। उन्होंने ‘आश्चर्यचर्याचय’ नामक अपनी शोधपरक पुस्तक में लिखा है-

‘‘तांत्रिक बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ थीं। वज्रयान और सहजयान। वज्रयान ओड़िशा से उद्भूत हुआ था। इस वज्रयान के प्रधान प्रवर्तक इंद्रभूति संभलक(आधुनिक संवलपुर) के राजा थे और आधुनिक सोनपुर प्राचीन काल में लंकापुर नाम से परिचित था। इस लंकापुरी के राजा जालेंद्र ने संभलक के राजा इंद्रभूति की बहन लक्ष्मीकरा से शादी की थी। लक्ष्मीकरा ने सहजयान का प्रवर्तन किया था, जिसका मैंने मुखबंध में प्रमाणित किया है।’’[170] वे इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं-

---

[169] शास्त्री हरप्रसाद, *बौद्धगान ओ दोहा*, पृ- 29

[170] कर करुणाकर, *आश्चर्य चर्याचय*, पृ-2

"पाग साम जान जान के अनुसार उडियान या उड्डीयान से प्रथम बार बौद्ध तांत्रिक मतवाद का विकास हुआ था। तारानाथ ने 84 सिद्धों के इतिहास को बताते वक्त ओडियान राज्य में 500, 600 नगर विद्यमान थे। यह दो राज्यों में विभक्त था। एक का नाम संभलक, उसमें इंद्रभूति शासन कर रहे थे और दूसरे का नाम लंकापुरी, जालेंद्र उसके राजा थे। जालेंद्र के पुत्र का इंद्रभूति की बहन लक्ष्मीकरा से विवाह हुआ था।...गुरु पद्मसंभव ओडियान के राजा इंद्रभूति के पुत्र थे।... वाडेल साहेब जाहोर को शब्द-साम्यता के कारण लाहोर से जोड़ते हुए प्रश्न चिह्न लगाए हैं। अतः उन्होंने संभावना की सूचना मात्र दी है। डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य महाशय ने नलीन कुमार भट्टशाली को अनुसरण करते हुए पूर्व बंग के ढाका जिले के साभार ग्राम को जहोर निर्णय किया है। ओडियान लंकापुरी और जहोर परस्पर नजदीक विद्यमान थे। ओडियान को स्वात उपत्यका और जहोर को पूर्व बंगाल में स्थित है, कहकर अगर मान लिया जाए तो, ओडियान राजकुमार के साथ जहोर की राजकन्या के साथ विवाह होना कैसे संभव है? जहोर का राजा शांतरक्षित अपनी बहन को अनती दूर के किसी अज्ञातकुलशील तथा निर्वासित भिक्षु के साथ कैसे शादी करवाते? केवल ओडियान और जहोर एक निकट होने पर ही यह संभव हो सकता है। अतः ओडियान देश जहोर के समीप था।"[171]

ध्यान देने की बात यह है कि धर्मवीर भारती जी ने बागची को उद्धृत करते हुए भी दोनों स्थानों को पश्चिमोत्तर क्षेत्र में कहीं नजदीक बताया है। किंतु यहाँ कुछ व्यतिक्रम अवश्य है, जिसकी व्यापक चर्चा आगे होगी। डॉ. कर जी ने आगे अपने तर्क को और व्याख्यायित किया है-

"डॉ. पी. कार्दिये साहेब ने तेंगुर स्थित बौद्धतंत्र के जिस कैटलॉग को छपवाए हैं, उसमें इंद्रभूति ओडियान के राजा, सिद्ध, महाचार्य के रूप में वर्णित किया है। किंतु आगे 39 और

[171]वही, पृ- 9

96 पृष्ठ में इंद्रभूति ओडिवीसा या ओड़िशा के राजा हैं, कहा है। इस लिए ओड़ियान को ओड़िशा मानने का यथेष्ट कारण है।"[172]

उपर्युक्त तथ्य ने एक ओर तो इंद्रभूति के निवास स्थान को ओड़िशा सिद्ध किया है, दूसरा उसने भ्रम भी पैदा किया है। किंतु आगे के साक्ष्य इस भ्रम को निरस्त करते हैं-

"ओडियान के राजा इंद्रभूति के राज्य का नाम संभल था। प्रचीन काल में आज के संवलपुर का नाम संभलक था। 2 शती ई. से भौगोलिक टलेमी (Ptolemy) के ग्रंथ में संभलक नाम देखने को मिलता है। वह संभलक देश संबलपुर नाम से साम्यता रखता है।(खासकर संभलक अगर ओड़िशा से संबंधित है तो, जिसका साक्ष्य दिया जा चुका है) टलेमी ने सबराई प्रदेश में मानस नदी के प्रवाहित होने की बात की है और उस नदी के गर्भ में हीरा मिलने का भी उल्लेख किया है। इस मानस को महानदी से संबंधित माना जाता है। क्योंकि आज तक उस नदी के गर्भ से हीरे प्राप्त होते हैं।(हीराकुद नाम भी इसी से पड़ा है)। इस कारण टलेमी का संभलक ओड़िशा के संबलपुर होने का अनुमान किया जाता है।... अतः ओडियान के राजा इंद्रभूति इस संभल राज्य के राजा थे, यह संभव है।"[173]

पी कार्देय साहेब का भ्रम, कि ओडियान और ओडिवीसा एक ही स्थान ओड़िशा को इंगित करते हैं, उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध हो सकता है।

अब रही बात पश्चिमोत्तर प्रांत के आज के स्वात उपत्यका में, ओडियान के होने के अनुमान को,तथा सरहपा का उस प्रांत से संबंध की, कुछ ओड़िया के विद्वानों के अनुसार दिए गए साक्ष्यों के अनुसार निराधार साबित करने की चर्चा होगी। डॉ. मायाधर मानसिंह, जो ओड़िया के यशस्वी इतिहासकार हैं तथा जिनका इतिहास ग्रंथ साहित्य अकादमी द्वारा अंग्रेज़ी में छपा है, उन्होंने डॉ. नवीन

---

[172] वही, पृ-10

[173] कर करुणाकर, *आश्चर्यचर्याचय*, पृ- 10

कुमार साहु के 'Buddhism in Orissa' को उद्धृत करते हुए, ओडियान को ओड़िशा में होने का दावा किया है, जो विचारणीय है:-

फिर इन कविताओं के बौद्धतंत्र की जन्मभूमि का शास्त्रीय नाम ओडियान है। इस ओडियान की अवस्थिति के संबंध में पंडितों ने बहुत अधिक आलोचनाएँ की हैं।... इन कविताओं के कविगण- दारिपा, ढेंकिपा, लूइपा, कान्हुपा, शबरिपा आदि कवियों की स्मृति ओड़िशा में अनेक स्थानों में अभी भी विद्यमान है। युवा इतिहासकार नवीन कुमार साहु ने शक्तिशाली युक्तियों के साथ प्राचीन ओडियाम ओड़िशा में था, यह सिद्ध किया है तथा डॉ. सिल्वालेवी तथा डॉ. बागची की पूर्व युक्तियों का[174] उन्होंने साक्ष्यों द्वारा खंडन किया है-

"सरह, लूई, शबरिपा और अन्य बौद्ध सिद्धगण जिनको तिब्बती और अन्य प्रामाणिक ग्रंथों में ओडियान के कहा गया है, उन्होंने बहुत संख्या में दोहे और गानों की रचना करने की बात कही गी है, जिनकी भाषा आज की बांग्ला, ओड़िया, असमिया और मैथिली भाषाओं की जननी कहलाती है। उडियान अगर उत्तर-पश्चिम भारत(आज के पाकिस्तान) के स्वात उपत्यका है, और उसे सिद्धों की निवास-भूमि मान लिया जाए, तब यह समझने मैं कठिनाई होती है कि ये सिद्ध उत्तर-पश्चिमी भारत की तत्कालीन प्रचलित भाषाओं में एक भी कविता क्यों नहीं लिखे हैं, उत्तर पूर्वी अपभ्रंश भाषा में कविताएँ कहीं हैं? अतः स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि ओडियान भारत के उत्तर-पश्चिम के स्वात उपत्यका में नहीं, उत्तर-पूर्व में है। फिर जानने की बात यह है कि स्वात उपत्यका में अबतक कोई तांत्रिक प्रतिमा नहीं मिली है।... वरन् ये विस्मय का विषय है कि, तंत्रशास्त्र की युग्म देवी कुरुकुल्ला तथा वज्रवराही, जिन्हें ओडियान की अधिष्ठात्री देवी कही जाती है, उनकी प्रतिमा पूरे भारतवर्ष में अबतक केवल

174 मानसिंह मायाधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ- 152-154

ओड़िशा से ही प्राप्त हुई है, भारत के अन्य किसी अंचल में ये मिली नहीं हैं। ... अतः ऐतिहासिक, प्रत्नतात्विक, दंतकथाओं आदि दिशाओं से ये प्रमाणित होता है कि बौद्ध तंत्र की जन्मभूमि ओडियान, सुदूर स्वात उपत्यका नहीं, वह ओड़िशा है, इसे गृहीत करना चाहिए।"[175]

मानसिंह जी के उपर्युक्त तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। कारण इतिहास की वैज्ञानिकता है। इतिहास साक्ष्यों से पूर्णता प्राप्त करता है। साक्ष्य अनुश्रुतियों आधारित भी होता है और वैज्ञानिक तथ्य आधारित भी। वैज्ञानिक तथ्य आधारित साक्ष्य प्रत्नतात्विक, प्राथमिक अभिलेख आदि पर आधारित होते हैं। द्रष्टव्य है कि जहाँ पर सरहपा पर हिंदी के विद्वानों के मत हैं, वे अधिकांशतः अनुश्रुतियों तथा अनुमानाश्रित हैं, वहीं ओड़िया के विद्वानों के मत प्रत्नतात्विक और अभिलेखाधारित हैं। मैंने पहले ही नालंदा और विक्रमशीला पर कुछ पंक्तियाँ उद्धत की थीं, वे भी पूर्णतः वैज्ञानिक साक्ष्य आधारित न होते हुए भी इतिहासकारों के द्वारा गृहीत हैं। दरअसल जितने भी ऐत्हासिक खंडहर आज विद्यमान हैं, उनमें से अधिकांशतः का विवरण अनुमानाश्रित है। अधिकांश ऐतिहासिक स्थानों की आधुनिक अवस्थिति अनुमानाश्रित है। उस हालात में नवीन कुमार साहु जी के उपर्युक्त तथ्य ग्राह्य क्यों नहीं होंगे, जो वैज्ञानिक साक्ष्य आधारित है?

मायाधर जी कृत 'History of Oriya Literature' की भूमिका में जातीय साहित्य अकादमी के सेक्रेटरी ने लिखा है-

"No History of Literature, unless it is a mere chronological catatogue of names, can wholly avoid critical estimates and qualitative preferences."[176]

---

[175] वही, पृ- 68

[176] मानसिंह मायाधर, *History of Odia Literature*, पृ- 7

यानी कोई भी साहित्येतिहास, अनुमान तथा गुणात्मक वरीयता को नजरअंदाज नहीं कर सकता। यह सही है, किंतु अगर साहित्य का इतिहास वैज्ञानिक साक्ष्यों के होते हुए भी संपूर्णतः अनुमानाश्रित हो जाए तो, वह क्या इतिहास कहलाएगा? राहुल जी की अपनी सीमाएँ थीं, जिनकी चर्या हमने की है। किंतु आगे के इतिहासकार भी अगर संपूर्णता की दृष्टि से सिद्ध साहित्य का अनुशिलन नहीं करेंगे, तब उसके इतिहास पर प्रश्नचिह्न अवश्य ही रहेंगे। मुक्तिबोध ने उपन्यास की परिभाषा पर उदाहरण देते हुए, संपूर्ण उपन्यासों के अध्ययन कर के नतीजे तक पहुँचने की सलाह दी थी। (एक साहित्यिक की डायरी) सिद्ध तथा सरहपा पर इतिहास की पुनर्रचना की आवश्यकता है। फिर से हिंदी, ओड़िया, बांग्ला, असमिया, तिब्बती, नेपाली आदि सभी भाषाओं की रचनाओं के अनुशीलन की आवश्यकता है। खास कर हिंदी में। इस शोध को कर्यान्वित करते समय जब बड़े-बड़े इतिहासकारों की पुस्तकों से गुजरा गया तब यह महसूस हुआ कि या तो इतिहासकारों ने सिद्धों को अपने साहित्येतिहास में वरीयता नहीं दी है या फिर अगर वरीयता से बात की है तो ओड़िया के इतिहास तथा इतिहासकारों पर बिल्कुल दृष्टि नहीं डाली है (रणजीत शाह को छोड़कर)। अतः यह एकांगी है। क्योंकि सिद्ध ओड़िया भूमि से संबंध रखते थे, अतः यह जरूरी है कि भारत का कोई भी इतिहासकार या शोधार्थी जब अपना शोध करता है, या इतिहास लिखता है, तब उसका कर्तव्य है कि वह ओड़िया साहित्य के इतिहास ग्रंथों की ओर भी अपनी दृष्टि रखे।

सिद्ध सरहपा का समय तथा उनकी ऐतिहासिकता(मिथक से इतिहास तक)

(क्या सिद्ध सरहपा के नाम से एकाधिक व्यक्ति हुए हैं?)

'सरहपा' जितने विवादित हैं, उतने ही चर्चित भी हैं। साहित्येतिहास के अंतर्गत हिंदी, ओड़िया तथा बांग्ला आदि में और भौगोलिक दृष्टि से भारत, तिब्बत तथा नेपाल में उनसे चर्चित व्यक्ति कोई

और नहीं है। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार वे अग्र सिद्ध हैं। अग्र सिद्ध होने के कारण उनकी एक समृद्ध पंथ-परंपरा चली। किंतु सरहपा के नाम से एकाधिक व्यक्तित्व की परिकल्पना कार्देयर आदि विद्वानों ने की है। इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। एकाधिक अनुश्रुतियों तथा व्यक्तित्व के कारण सरहपा के समय के बारे में पता लगा पाना मुश्किल हो जाता है। कोई उनको धर्मपाल, तो कोई उनको रत्नपाल के समय विद्यमान रहने की परिकल्पना की है। ओड़िशा में भुवनेश्वर म्यूजियम में स्थित एक मूर्ति के आधार पर उड़िया के विद्वान् उनका समय शुभाकर देव राजा के विद्यमान के समय, 8 वीं से 9 वीं शती के बीच निर्धारित करते हैं।[177] विनयतोष भट्टाचार्य जी उनको 7 वीं शती का मानते हैं, तो राहुल जी 8 वीं शती का और धर्मवीर भारती जी उनका समय 9 वीं शती मानते हैं। इस तथ्य के साथ अगर फिर हम शबरिपा को मिला लें तो यह और बोझिल हो जाएगा, क्योंकि कुछ अनुश्रुतियों में शबरपा को भी सरहपा (छोटे सरहपा) के नाम से पुकारा जाता है। आगे इतिहासकारों के विवरणों तथा सरहपा की रचनाओं से साक्ष्य ढूँढकर उनके समय निर्धारण करने तथा उनकी ऐतिहासिकता की खोज करने की कोशिश होगी।

किसी भी महान् कवि के समय निर्धारण करते वक्त शोधकर्ताओं को, सबसे पहले उनकी रचनाओं से गुजरना पड़ता है। फिर अभिलेखों, प्रत्नतात्विक साक्ष्यों आदि की ओर रुख करना पड़ता है। फिर अगर इनसे काम न चले, तो अनुश्रुतियों, कहानियों आदि की ओर भी ध्यान देना पड़ता है। सरहपा के मामले में यह कार्य बहुत कठिन है, कारण कई हैं। जिनमें प्रमुख उनकी संपूर्ण रचनाओं का न मिल पाना तथा उनके नाम से वैज्ञानिक तथ्य न मिल पाना है। राहुल जी उनकी खोई हुई रचनाओं की प्राप्ति की

---

177 "विशिष्ट ऐतिहासिक डॉ. नवीन कुमार साहु ने कहा है, ओड़िशा म्युज़ियम में जो अवलोकितेश्वर की मूर्ति सुरक्षित है, उसके निम्न भाग में एक अभिलेख संरक्षित है, जिसमें लिखा है- इस मूर्ति को महामंडलाचार्य परमगुरु राहुलरुचि ने शुभाकर देव के राज्यकाल में प्रतिष्ठित किया था। डॉ. साहु ने राहुलरुचि को सिद्ध सरहपा माना है और शुभाकर देव को 790-839 ई. के बीच विद्यमान रहने को माना है।"- *चर्यागीति*, महारणा सुरेंद्र कुमार, पृ- 20

आशा रखते हैं। अभी तक सरहपा के बारे में जो कुछ लिखा गया है, तथा सरहपा के नाम से उपलब्ध रचनाओं का सिंहावलोकन कर मैं, कुछ निर्णयों का उल्लेख करने की कोशिश करूँगा।

अगर हम सभी विद्वानों के द्वारा दिए गए समय को एक धागे में पिरो दें तो, मोटा-मोटी इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि उनका जन्म 7वीं से 10 वीं शती के बीच में कभी हुआ होगा। 7 वीं से 10 वीं के लंबे समय के बीच भारत की परिस्थिति कैसी थी, इसका जानना बेहद जरूरी है। क्योंकि एक सच्चा साहित्यकार या कवि अपने समय को अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से पुनर्रचित करता है। अतः हमें एक शोधकर्ता के रूप में सरहपा की रचनाओं तथा उनसे संबंधित अन्य विद्वानों के द्वारा लिखित रचनाओं समेत तत्कालीन इतिहास, समाज, राज्य व्यवस्था आदि का भी अध्ययन करना पड़ेगा। इसके लिए अगर हमें शुद्ध इतिहास, समाजशास्त्र आदि का सहारा लेना पड़े तो कोई अशुद्धि नहीं होगी। आगे यही कोशिश होगी।

कुंभनदास ने कहा है, 'संतन को कहाँ सीकरी सों काम', तुलसीदास ने लिखा है, 'खेती न किसान को भिखारी को न भिख बलि', 'माँगि कै खैबो, मसीत को सइबो', सिख गुरुओं ने राज्य सत्ता के खिलाफ़ विद्रोह किया है। भारतेंदु आदि ने अंग्रेज़ी राज को फटकारते हुए कितनी रचनाएँ की हैं। निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल आदि कितने ही कवि अपने समय की विसंगतियों को बेबाकी से अपनी कविताओं में उतारा है। सरहपा के समय भी ऐसे कवि संस्कृत में हुए हैं, जिन्होंने समाज में फैली समस्याओं अपनी रचनाओं में रेखांकित किया है। सरहपा के समय के आसपास भी ऐसे कवि संस्कृत में हुए हैं, जिन्होंने समाज में फैली समस्याओं के शब्द प्रदान किया है- **"दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा/क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्यान चेदेहिनी/ या च्ञा भङ्ग भयेन गददगलत्-त्रुट्यद्विलीनाक्षरं/ को देहीति वेदत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान्।"** ये भर्तृहरि की पंक्तियाँ हैं। इन्हें कोसम्बी साहेब ने इनका समय तीसरी सदी के आसपास का माना है। भर्तृहरि अभिजात वर्ग के कवि थे, किंतु तथापि उन्होंने तत्कालीन समाज की जो विसंगतियाँ व्यक्त की हैं, उन्हें देखकर

आश्चर्य होता है।"[178] एक महान् लेखक हम किसे कहेंगे?कोसाम्बी को उद्धृत करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है-

"एक महान् लेखक अपनी रचना में स्वयं को सीधे-सीधे प्रकट नहीं करता। वह अपने अनुभवों के साथ-साथ दूसरे के अनुभवों को भी व्यक्त करता है। लेकिन इन अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में वह जिन बिंबों और मुहावरों का प्रयोग करता है, उनमें उसके वर्ग और सामाजिक संरचना की छाप मौजूद रहती है।"[179] सरहपा में तत्कालीन सामाजिक संरचना की छाप तो मौजूद है किंतु आर्थिक - राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उनकी चुप्पी उलझनों में डाल देती है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विसंगतियों के यथार्थ चित्रण की आशा करते हुए, आदिकवि सरहपा से अधिक उम्मीद रखी ही जा सकती है।

सरहपा आदि सिद्ध हैं, साथ ही अवश्य ही एक महान् लेखक भी हैं। सरहपा की शृखंला में आए सिद्ध विरूपा की पंक्तियों में चमत्कारों द्वारा दो बार म्लेच्छ के विरोध का उल्लेख है।[180] अब यह प्रश्न उठना लाजमी है कि सरहपा की रचनाएँ इन सब के मामले में क्यों चुप हैं?

7 वीं से 10 वीं शताब्दी के बीच का सामाजिक परिदृश्य कैसा था? राज्य व्यवस्था कैसी थी? धार्मिक परिस्थिति का स्वरूप कैसा था? क्या इन सबका वर्णन सरहपा ने अपनी रचनाओं में किया है? अगर हाँ, तो सरहपा इस समय अवश्य पैदा हुए होंगे। अगर नहीं, तो सरहपा का इस समय पैदा होना संदिग्ध है। यही प्रश्न मुझे आंदोलित कर रहे हैं कि इतने बड़े तथा प्रखर कवि, जो क्रांतिकारी माने जाते हैं, जिन्होंने स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी, तत्कालीन ब्राह्मण व्यवस्था को फटकारा है, जकड़ी बौद्ध व्यवस्था को नवीन राह पह चलने की नसीहतें दी हैं, ऊँच-नीच के भेदभाव को त्यागकर एक शर बनाने वाली

---

[178] पाण्डेय मैनेजर, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, पृ- 68

[179] वही, पृ- 69

[180] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 49

महिला को अपनी संगी बनाया है, गुह्य तंत्र को सर्व सुलभ किया है, उनकी कविताओं में वैष्णव तथा शैव राजाओं के अत्याचार, अरब सेना के द्वारा बौद्धों का नर संहार, नालंदा में ही फैले दुराचार आदि पर चुप्पी, सरहपा के उस समय वर्तमान होने को, संदेह के घेरे पर ले आता है। क्या जान बूझकर सरहपा इन विषयों पर चुप हैं? क्या उनको इन गंभीर विषयों पर बात करने की जरूरत महसूस नहीं हुई होगी? क्या राजद्रोह के भय से वे चुप हैं, क्या सरहपा तक सुदूर उत्तर-पश्चिम में क्या घट रहा था, उसकी ख़बर पहुँच नहीं पाई होगी? क्या इनके विद्यमान होने के समय ये सारी बातें समाज में नहीं थीं? क्या उन्होंने इसपर बात की है, किंतु आज वे रचनाएँ अप्राप्य हैं? ऐसे कई प्रश्न मुझे आंदोलित कर रहे हैं।

राहुल जी ने 'दोहाकोश' में सरहपा के समय की विभिन्न परिस्थितियों को रेखांकित किया है। धर्मवीर भारती जी ने भी व्यापकता में इस पर बात की है। किंतु किसी ने भी इस बात की चर्चा नहीं की है कि सरहपा ने इन सबके खिलाफ़ आवाज़ क्यों नहीं उठाई है! बकौल धर्मवीर भारती-

"इस बीच में राजाश्रय तथा राजधर्म ने सिद्धों की परंपरा तथा बौद्ध तंत्रों के उद्भव प्रचार तथा ह्रास को विशेषतया प्रभावित किया है..."[181]

इतिहासकार बताते हैं कि सिद्धों को राजाश्रय प्राप्त था। कुछ लोकप्रिय सिद्ध तो स्वयं राजा थे। कुछ विक्रमशीला तथा नालंदा जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों से संबंध रखते थे। सबकुछ सही चल रहा था। किंतु राज्यसत्ता के परिवर्तन के साथ बहुत कुछ में परिवर्तन आता है। उस समय जिस राजा का झुकाव जिस धर्म की ओर अधिक था, वह धर्म उतना ही समृद्ध था। राजा अगर जैन हो तो, जैन धर्म की उत्तरोतर उन्नति होती थी। राजा बौद्ध हो तो बौद्धों का तथा शिव या वैष्णव हो तो शिव वा वैष्णव-धर्म को समाज में राजाश्रय प्राप्त होता था। सिद्धों के समय बंगाल में पाल वंश, ओड़िशा में भौमकर वंश का

[181] वही, पृ- 42-43

राज था। ये दोनों सिद्धों के लिए उदार थे। किंतु जल्द ही बौद्ध-सिद्धों के आकाश में शंशांक रूपी कलंक मंडराने वाला था। धर्मवीर भारती ने लिखा है-

“सिद्धों की समकालीन राजनीतिक परिस्थिति को भलीभांति समझने के लिए हर्ष और शशांक की प्रतिद्वंद्विता का थोड़ा सा इतिहास जान लेना अत्यंत आवश्यक है। इसलिए नहीं कि वह एक पूर्वीय तथा एक मध्यदेशीय सम्राट की प्रतिद्वंद्विता थी, वरन् इसलिए कि उस प्रतिद्वंद्विता के मूल में शैव और बौद्ध प्रतिद्वंद्विता भी थी।”[182]

बौद्ध धर्म जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था, तब पूर्वी भारत में नवीन धार्मिक शक्तिओं का उदय हो रहा था। जिस शैव ने आगे चलकर सिद्धों में अपने आप को पराभूत किया, उसी में एक शशांक नामक राजा हुआ, जिसने सिद्धों को बहुत सताया। धर्मवीर भारती जी आगे लिखते हैं-

“शशांक के प्रारंभिक जीवन के विषय में अधिक नहीं ज्ञात है। ... 606 ई. के पूर्व वह सम्राट पद पर आसीन हो चुका था और बंगाल, उड़ीसा तथा मगध उसकी अधीनता में थे।... शशांक बौद्धों का कट्टर शत्रु था। बुद्ध के पद चिह्नों वाला एक पत्थर गंगा में फिंकवा दिया था, बोधिवृक्ष की शाखाएँ कटवा डाली थीं और बुद्ध प्रतिमा को नष्ट कर शिव प्रतिमाओं की स्थापना करनी चाही थी।”[183]

शशांक एक तरह से बौद्धों के लिए सिर-दर्द बन गया था। माना जाता रहा है कि बौद्धों पर हानि वैष्णव तथा ब्राह्मण धर्म को मानने वालों ने अधिक पहुँचाई है। किंतु शशांक इस बात को ग़लत साबित करता है। उसने जितनी क्षति बौद्धों को पहुँचाई है, किसी और ने नहीं। इस तरह पूर्वी बंगाल का वर्मन भी बौद्ध विरोधी था। ऐसे और भी राजा उस समय तक अवश्य रहे होंगे। ऐसे में यह आश्चर्य लगता है

[182] वही, पृ- 43
[183] वही, पृ-46

कि किसी एक सिद्ध ने भी इन राजाओं के अत्याचार के खिलाफ़ क्यों आवाज़ नहीं उठाई है? डॉ. राम कुमार वर्मा ने भी बहुत रोचक तथ्य दिया है-

"यों तो बौद्ध धर्म को समय-समय पर संघर्षों का सामना करना पड़ा- गुप्त वंश के परम भागवत नरेशों द्वारा भी बौद्ध-धर्म की गति में बाधा पड़ी, लेकिन उसे सबसे बड़ा आघात ईसा की आठवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा में सहन करना पड़ा।"[184]

इससे यह पता चलता है कि सिद्धों को सिर्फ राजाओं से नहीं अपितु वैदिक धर्म प्रचारकों से भी समस्या होने लगी थी। अगर राहुल जी को मानें तो सरहपा शंकर-कुमारिल के समय विद्यमान थे।

शशांक तथा वर्मन के बौद्धों पर अत्याचार एवं वैदिक धर्म प्रचारकों के द्वारा बौद्धों के विरोध की बात को जानने के बाद हम पाल वंश के संबंध में कुछ जान लेते हैं। कहा जाता है कि सिद्धों पर पाल वंश का संरक्षण प्राप्त था। बंगाल में गोपाल का राज्याभिषेक करीब 750 ई. को हुआ।[185]770 ई. में धर्मपाल(गोपाल का पुत्र) गद्दी पर बैठा। धर्मपाल का शासनकाल धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। तारानाथ का कहना है, कि धर्मपाल ने अपनी तथा अपनी पत्नी के वज़न के बराबर सोना बौद्धों को दान किया था, उनके लिए एक नए बौद्ध-विहार विक्रमशीला की स्थापना की थी। पुराने विहार सोमपुरी का पुनरुद्धार किया था। अन्य कितने ही बौद्धहितों का उल्लेख मिलता है।[186]

धर्मपाल के बाद देवपाल 810 ई. में शासन भार संभालता है। इसके बाद पाल वंश की प्रतिष्ठा का ह्रास प्रारंभ हुआ। जब कोई राजा इतना उदार हो, तब यह निश्चित है कि उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष जिक्र, उसकी उदारता को प्राप्त करने वाले सिद्धों में से कोई न कोई अवश्य करता। व्यापकता से नहीं न

---

[184] वर्मा रामकुमार, *हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*, पृ- 41

[185] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 45

[186] वही, पृ- 45

सही, गौण रूप से तो अवश्य करता। न ही सरहपा न किसी और सिद्धों की पंक्तियों में इन राजाओं का जिक्र मिलता है, न ही प्रशस्ति सुनने को मिलती है।

अब हम थोड़ा तत्कालीन विदेशी आक्रमण की बात पर भी गौर करें। सरहपा के समय के आसपास से ही एक बहुत बड़ी हलचल भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर शुरू हो गयी थी। अरब में नई सैन्य-शक्ति का अभ्युदय हो गया। उसने एक-एक करके कई सांस्कृतिक रूप से समृद्ध देशों को न सिर्फ हराया बल्कि उनकी सांस्कृतिक धरोहर को मिट्टी में मिला दिया। राहुल जी इसका वर्णन करते हैं-

"इनके मैदान में आने से पहले ही भारत से बाहर अपने प्रभाव को फैलाती एक विश्वशक्ति पश्चिम की ओर से भारत की ओर बढ़ती चली आ रही थी। यह थी अरब या इस्लाम की शक्ति। अभी प्रतापी हर्ष कान्यकुब्ज में विराजमान ही थे, जबकि 639 ई. में अरब-सेना ने महाबंद के युद्ध क्षेत्र में ईरान के प्रतापी सासानी राजवंश का उच्छेद किया। अगले तेरह वर्षों में विजयिनी अरब सेना ख्वारेज्म और तुखारिस्तान [मध्य आमू(वक्षु) उपत्यका]तक पहुँच गई। अरब केवल अपने शासन की ही स्थापना के लिए दिग्विजय नहीं कर रहे थे, बल्कि साथ ही वह विजित देशों की संस्कृति और प्राचीन विश्वासों को ध्वस्त कर एक नये रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस लिए उनके प्रतिद्वंद्वि भी आसानी से हथियार डालने के लिए तैयार नहीं थे।"[187]

अरब शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी। यह पूरे विश्व इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव था, जिसने न सिर्फ वर्तमान को अपितु भविष्यत् को भी प्रभावित किया था। विश्व धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन में अरब सेना के अभ्युदय का बहुत बड़ा हाथ है। राहुल जी ने अरब सेना के द्वारा नए देशों के अधिग्रहण तथा उनका बौद्धों पर पड़े प्रभाव पर विशेष दृष्टि डाली है-

"तुखारिस्थान मध्य एशिया में बौद्धों का गढ़ था, जहाँ दत्तामित्र- आधुनिक तेर्मिज और बलख(वाहलीक) अपने महान् बौद्ध-विहारों तथा विद्वानों के लिए मशहूर थे।... तुखारिस्तान

---

[187] साकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ-2

की भूमिका में इस्लाम और बौद्धधर्म के लिए जो खूनी संघर्ष हो रहे थे, उससे भारतीय शासक चाहे अप्रभावित रहे, पर बौद्ध-जगत् के महान् शिक्षा केंद्र नालंदा और दूसरे विहारों में तो सैकड़ों भुक्तभोगी मध्य एशियाई भिक्षु अध्ययन करते थे, इसलिए वह सारी घटनाओं से पूरी तौर से अवगत थे। यद्यपि वहाँ भारत से कोई सहायता नहीं पहुँच सकती थी, पर भारतीय बौद्धों की सहानुभूति तुखारिस्तानियों के साथ थी।"[188]

यद्यपि आज की तरह संचार माध्यम तब उपलब्ध नहीं थे, किंतु ख़बरें तो एक जगह से दूसरी जगह, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अवश्य ही पहुँचती थीं। उत्तर-पश्चिम में जो भी हलचलें हो रही थीं, उनकी हवा पूरब की ओर अवश्य बहती होगी। अगर हम राहुल जी को ही मान लें कि सरहपा का जन्म 769 ई. के आसपास हुआ था, तो ऊपर वर्णित घटनाएँ, हाल ही में, उनके जन्म से पहले घट चुकी थीं। किंतु सिर्फ यही कुछ घटनाएँ नहीं थीं, जो कुछ काल तक चलकर समाप्त हो गईं। ये तो शुरुआत थी। अरब सेना लगातार पश्चिम से पूरब की तरफ बढ़ रही थी और रास्ते में आने वाली हर एक चीज़ को नष्ट करती जा रही थी। इस तरहः

"आठवीं सदी के साथ इस्लाम की विजयिनी ध्वजा सिर और सिंधु महानदियों के किनारे फहराने लगी। आज से 1245 वर्ष पहिले 711 ई. में उमैया खलीफ़ा वलीद अब्दुल्मलिक पुत्र के सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने आपसी फूट से लाभ उठाकर सिंध को अरब साम्राज्य में मिला लिया और सिंधु हमेशा के लिए इस्लाम का विजित देश हो गया। ... 709 ई. में बुखारा बौद्ध विहार के कारण पड़े इस नामवाले महानगर- को अंतिम संघर्ष के बाद आत्मसमर्पण करना पड़ा और वह आगे चलकर बौद्ध की जगह इस्लाम की काशी बना। 714 ई. में पूर्वी तुर्किस्तान में भी इस्लाम की विजयी-वैजयंती पहुँच गई, जब कि काशगर और खुतन ने घुटने टेक दिए और सैकड़ों वर्षों से बौद्ध धर्म प्रधान इस देश के हज़ारों संघारामों को

---

[188] वही, पृ-2

लूटकर नष्ट कर दिया गया, भारी संख्या में भिक्षु तलवार के घाट उतार दिए गए। यह सारी घटनाएँ भारत के बौद्ध आचार्यों के लिए अपने सामने घटित सी मालूम होती थीं।"[189]

सरहपा का अगर यही समय है तो यह बौद्धों के लिए सबसे ख़तरनाक दौर अवश्य रहा है। बाहर इस्लाम का आक्रमण और अंदर शैव तथा ब्राह्मणों का अत्याचार बौद्धों के लिए दुहरा दर्द था। ऐसे वातावरण से और ऐसी परिस्थिति में सरहपा का जन्म होता है। सरहपा की एक भी पंक्ति में इन अत्याचारों का विरोध तो क्या जिक्र तक न होना आश्चर्य में डाल देता है। कारण क्या हो सकता है? यद्यपि राहुल जी ने इसके कारण के बारे में 'दोहाकोश' में कुछ नहीं कहा है, किंतु 'हिंदी काव्यधारा' में इसपर चर्चा अवश्य की है। उन्होंने कवि की चुप्पी को उनकी मजबूरी बताया है। वे लिखते हैं-

"जिस परिस्थिति के कारण कवियों को यह मौन धारण करना पड़ा, उस परिस्थिति पर भी आपको ध्यान देना होगा। यदि कमाऊ जनता की सारी यातनाओं के असली कारण को वह चाहे न भी बतलाते और सिर्फ लोगों की इन यातनाओं का नग्न चित्र खींच देते, तो उससे रेशम और रतन से ढँका अमीरों के भोगमय जीवन नग्न हो उठता, दोनों की तुलना होने लगती और फिर जनता के कितने ही लोग वैसे समाज से क्षुब्ध हो उठते, जिसका परिणाम अवश्य अमीरों के लिए अच्छा नहीं होता। इस लिए आपको समझना होगा कि क्रौंच-मिथुन में से एक के वध के लिए कवि का आँसू बहाना जितना आसान था, उतना उस काल के बहुसंख्यक समाज की विपदाओं का वर्णन करना आसान नहीं था। यदि कोई आदमी तत्कालीन भोगी समाज के विरुद्ध लिखने के लिए अपनी कवि प्रतिभा का कुछ भी दुरुपयोग करता, तो वह केवल पुरोहितों के धर्म-दंड का ही भागी नहीं होता, बल्कि उसके सरपर पड़ता क्रूर राज-दंड- छिपकर हत्या, भयंकर शारीरिक यातना, सीधे शूली, देश और समाज से निष्कासन और अपमान। इन दंडों को सामने रखकर जब आप इन कवियों की चुप्पी को देखेंगे, तो मालूम

[189] वही, पृ-3

होगा कि उनके वैसे करने के लिए प्रबल कारण मौजूद थे।यही नहीं, कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा की जो करामात दिखलाई है, उसका बचा-खुचा अंश भी शायद राजा-पुरोहित-सेठ की कोपाग्नि से न बच पाता। कवि अपने स्थूल शरीर और कीर्तिशरीर दोनों ही से नष्ट होने का भय सोच यदि मौन रहा, तो उसके विरुद्ध किसी कठोर फ़ैसले के देने का हमें अधिकार नहीं हैं।"[190]

राहुल जी की उपर्युक्त उक्ति क्या सरहपा के लिए भी लागू होती है? क्या सिद्ध सरहपा को राजदंड आदि का भय था? आज सरहपा की केवल सांप्रदायिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें यदाकदा उन्होंने समाज के उच्च तबके में से ब्राह्मणों के खिलाफ आवाज उठाई है। राज अत्याचार के खिलाफ वे चुप नज़र आते हैं। क्या सरहपा ने इनके खिलाफ आवाज उठाई होगी, जिसके कारण उनको उच्च वर्ग के कोप का सामना करना पड़ा होगा? क्या सरहपा आदि कवियों के बेबाकीपन के कारण उनकी समाजिक रचानाएँ ज़ब्त कर दी गईं या जला दी गईं होंगी, या फिर राहुल जी जैसे कह रहे हैं, सरहपा ने जान बूझ कर ऐसा किया होगा? दरअसल फिर से एक बात यहाँ दोहराना आवश्यक है कि सरहपा के नाम से जितनी भी रचनाएँ आज उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश संदिग्ध हैं, प्रक्षिप्त हैं तथा उनके अनुयायियों द्वारा सरहपा के तिरोधान के पश्चात् रची गई हैं। राहुल जी 800 क़रीब पदों का अब भी नेपाल तथा तिब्बत में होने की शंका जताते हैं। यह संख्या और भी हो सकती है। अतः हो सकता है सरहपा ने इनके खिलाफ आवाज उठाई हों!यह भी संभव है कि उनकी रचनाएँ नालंदा में संगृहीत हों, जो आगे पुस्तकालय के दाह में जल गईं हों। नालंदा उस ज़माने के विश्व के सबसे चर्चित विश्वविद्यालयों में एक था। क्योंकि सरहपा ने नालंदा में अध्यापन किया है, अतः यह संदेह किया ही जा सकता है कि उनकी रचनाएँ या उनका जीवन-वृत नालंदा में अवश्य संगृहीत होंगे, जो या तो जल गए होंगे या उनके अनुयायियों द्वारा तिब्बत चले गए होंगे और फिर कहीं दबे पड़े होंगे।

---

[190] सांकृत्यायन राहुल, *हिंदी काव्यधारा,* पृ- 21

अब विदेशी आक्रमण के खिलाफ सरहपा की चुप्पी की बात आती है। सरहपा के विद्यमान रहने के समय में भी विदेशी ताक़तों का भारतीय बौद्धों पर आक्रमण हो रहा होगा। सरहपा इसके बारे में भी क्यों चुप हैं? एक बौद्ध दूसरे बौद्ध के ख़ून गिरते वक्त चुप कैसे रह सकता है? खास कर सरहपा जैसे बेबाक कवि! आगे विरुपा ने जैसे म्लेच्छ आक्रमण का जिक्र किया है, सरहपा भी वैसे कुछ न कुछ कह ही सकते थे। किसी न किसी रूप में अत्याचार, युद्ध आदि चीज़ें उनकी रचनाओं में आ सकती थीं। किंतु इस पर भी वे चुप हैं। क्या सरहपा बौद्ध नहीं थे, जिस कारण उन्होंने बौद्धों की तकलीफ को रेखांकित नहीं किया ? मेरा यह प्रश्न विवाद पैदा करेगा। किंतु इस ओर हमें सोचना चाहिए। सरहपा ने 'बौद्धगान ओ दोहा' में संकलित पंक्तियों में एक बार बुद्ध का नाम लिया है। किंतु किस संदर्भ में लिया है, इस ओर ध्यान दीजिए। कबीर ने अपनी पंक्तियों में हरि, राम आदि का नाम बार-बार लिया है। किंतु क्या इससे कबीर वैष्णव या राम भक्त साबित होते हैं? सरहपा की उस पंक्ति को यहाँ फिर से उद्धृत कर रहा हूँ:-

"पंडिअ सअल सत्त बखाणई, देह हि बुद्ध वसंत न जाणई"

अर्थात् देह में ही बुद्ध हैं, शास्त्र में नहीं हैं। हो सकता है सरहपा बौद्धों को नसीहत दे रहे हों, जैसे कबीर ने हिंदुओं और मुसलमानों को दिया है ।कबीर ने अपनी रचनाओं में राम और हरि का बार-बार वर्णन किया है। तो क्या उस वजह से हम उनको राम या हरि भक्त कह सकते हैं? इस दृष्टि से इस पर विचार करना अभी बाक़ी है। सवाल उठता है, सरहपा में बुद्ध किस रूप में थे? नाम के रूप में या दर्शन के रूप में या आराध्य के रूप में या किसी और रूप में? जहाँ तक प्रज्ञा, करुणा आदि तत्वों को देखकर हम यह अंदाजा लगाते हैं, भारत में सारे दर्शन एक दूसरे से ऐसे मिले हुए हैं, कि हम किसी एक नतीजे में पहुँच नहीं सकते। गाँधी में अहिंसा है तो क्या गाँधी जैन या बौद्ध ठहरते हैं। ध्यान देने कि बात यह है कि सरहपा में कोई एक तत्व समाविष्ट नहीं है कि उसे देखकर हम किसी एक निर्णय तक पहुँच सकते

हैं। अगर देखा जाए तो सरहपा तथा अन्य सिद्धों में बुद्ध से अधिक गुरु, तंत्र, रहस्य आदि तत्व अधिक दिखते हैं।

इस दृष्टि से संकलन का नाम 'बौद्धगान ओ दोहा' भी अयुक्तिपूर्ण लगता है। दूसरे सिद्ध ने भी बुद्ध का नाम न के बराबर लिया है। वैसे तो भारत के सारे धर्म, सभी दर्शन एक दूसरे से अंगांगी जुड़े हुए हैं। अतः इस दिशा में हमें फिर से सोचना होगा कि सिद्धों में बुद्ध कितने अंदर तक प्रविष्ट हैं?

फिर से हम उस प्रश्न पर आते हैं, सरहपा का समय क्या हो सकता है? कैसे पता किया जाए? अनुश्रुतियों तथा परिकल्पनाओं के आधार पर किसी महान् व्यक्ति का ऐतिहासिक समय पता नहीं किया जा सकता। अगर किसी समय का निर्णय भी कर लिया गया, तो उसे ऐतिहासिक नहीं माना जाना चाहिए। सरहपा ने स्वयं अपनी रचनाएँ नहीं लिखीं। उनके संबंध में जो अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, वे भी उनके समय के काफी बाद यहाँ तक की 16 वीं-17 वीं शताब्दी के समय गढ़ी गई हैं। (तारानाथ आदि के तथ्य जिसके संबंध में धर्मवीर जी ने लिखा है कि, तारानाथ की इन कथाओं के पीछे इतिहास कम है, लोकवार्ता अधिक है[191]) सरहपा के तिरोधान के पश्चात् उनकी परंपरा में 'सरहपा' नाम एक उपाधि बन गयी है, जिसका इस्मेमाल उनके शिष्यों ने कई बार किया है। इसे समझने के लिए हम धर्मवीर भारती जी को सुन सकते हैं-

"जहाँ तक समय का संबंध है, यह सिद्ध परंपरा अधिक से अधिक दो या तीन शतियों की परिधि में आ जाती है, क्योंकि इनमें से बहुत से सिद्ध समकालीन थे। इनके समय का निर्णय करने के लिए अंतर्साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है। बहिर्साक्ष्य के रूप में जो सामग्री मिलती है, वह भी सर्वथा भ्रामक है।"[192]

[191] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 49

[192] वही, पृ- 15

सिद्ध तथा सरहपा के संबंध में इतने भ्रम क्यों हैं? क्योंकि जो भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं, वे अधिकांश संप्रदायों से जुड़े होने के कारण संदिग्ध हैं। संदिग्ध तथ्यों को इतिहास का आधार बनाना कितना सही है? इससे पहले चर्चा हो चुकी है कि भट्टाचार्य जी, राहुल जी आदि ने जो समय निर्धारण किया है, वे अनुश्रुतियों तथा अनुमान आधारित हैं। अतः इनको सरहपा के समय निर्धारण में उपयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ प्रो. बैरेकली की उक्ति को उद्धृत करना जरूरी है-

"हम जो इतिहास पढ़ते हैं, हालांकि वह तथ्यों पर आधारित हैं, ठीक-ठीक कहा जाए तो एकदम यथातथ्य नहीं है, बल्कि स्वीकृत फैसलों का एक सिलसिला है।"[193]

इतिहास वैज्ञानिक साक्ष्यों पर आश्रित है, स्वीकृत फैसले कहाँ तक इतिहास बन सकते हैं, इस पर विचार करना बाक़ी है। सरहपा के समय निर्धारण से पूर्व हम भ्रामक सामग्री के विषय में दोबारा विचार कर सकते हैं। धर्मवीर भारती ने लिखा है-

"बहिर्साक्ष्य के रूप में प्रमुख आधार वे सांप्रदायिक अनुश्रुतियाँ हैं, जो तिब्बती बौद्ध ग्रंथों या भारतीय शैव(नाथ) ग्रंथों में मिलती हैं। किंतु उनके लेखकों का दृष्टिकोण अत्यंत भ्रामक, एकांगी और कल्पनारंजित है। उनमें निम्न दोष पाए जाते हैं- (क) अति- प्राकृतिक चमत्कार और सिद्धि की कथाओं ने उनमें असंभाव्य कल्पनाओं की भरमार कर दी है। (ख) साम्प्रदायिक संकीर्णता और प्रतिद्वंद्विता इतनी अधिक है कि जानबूझकर तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा गया है। शैव ग्रंथों में बौद्ध आचार्यों को शैवों का शिष्य माना गया है, शैवाचार्यों को प्राचीन और बौद्धों को परवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और बौद्ध ग्रंथों में यही व्यवहार शैव आचार्यों के साथ हुआ है। (ग)कभी कभी एक ही अम्नाय के कई आचार्यों को एक ही आदि सिद्ध का अवतार सिद्ध करने का प्रयास कर कई युगों तथा कई देशों में एक ही आचार्य का अस्तित्व माना गया है, जैसे तारानाथ ने विरुपा का अस्तित्व कई युगों में और कई

[193] कार ई. एच., *इतिहास क्या है*, पृ- 7

देशों में माना है। (घ) कई स्थानों पर एक ही सिद्ध पुरुष को विभिन्न संप्रदाय अपना मान लेते थे और उसका सारा इतिहास अपने ही रंग में रंग डालते थे। मत्येंद्र के विषय में भी यही हुआ है। नेपाल में वे शिव के अवतार माने जाते थे और तिब्बत में अवलोकितेश्वर के इसी प्रकार जालंधरिपा और हाड़ीपा को एक ही मान कर यह कह दिया था कि वे दो रूप धारण करके रहते थे। पश्चिम में जालंधरीपा और पूर्व में हाड़ीपा का। (ङ) तारानाथ जिनकी साक्षी बहुत से विद्वानों ने ग्रहण की है। 16वीं या 17वीं शती में हुए थे और कभी स्वयं भारत में आए भी नहीं थे। उनकी तिथियाँ, वंशावली, संप्रदाय निर्णय बिल्कुल प्रामाणिक नहीं है। (च) तारानाथ द्वारा उल्लिखित गुरुशिष्य परंपरा भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि तत्कालीन संप्रदायों की दो तीन प्रवृतियाँ बहुत ही विचित्र थीं। निगुरा रहना उस समय अशुभ माना जाता था। अतः कभी कभी सिद्ध अपने गुरु ऐसे आचार्यों को परिकल्पित कर लेते थे, जो उनसे कई शती पहले हुए हैं। उन्हीं का अम्नाय ग्रहण करते थे कि मैंने उनसे व्यक्तिगत रूप से दीक्षा ली है। कभी कभी ऐसी भी कथाएँ मिलती हैं कि शिष्य पहले उत्पन्न हुआ और जब कोई भी ऐसा न दीखा जिसे वह गुरु बना सके तो उसने अपनी चमत्कार शक्ति से एक गुरु भी पैदा कर दिया। चूँकि सिद्ध अजर-अमर माने गए हैं, अतः कभी कभी बहुत पहले कई शताब्दियों पहले उत्पन्न होने वाले सिद्ध भी अपने परवर्ती सिद्धों से गोष्ठी या शास्त्रार्थ करते हुए दिखाए गए हैं। यह परंपरा संतों तक चलती रहीं और नानक तथा चौरंगी और कबीर तथा गोरख की गोष्ठी का वर्णन पाया जाता है। इन समस्त दोषों को दृष्टि में रखते हुए इन साप्रदायिक अनुश्रुतियों को किसी भी ऐतिहासिक निर्णय का आधार बनाना उचित नहीं कहा जा सकता।"[194]

सरहपा के काल निर्धारण के समय उपर्युक्त समस्त बातों को ध्यान में रखना चाहिए। जिन सांप्रदायिक अनुश्रुतियों के साहारे सिद्धों तथा सरहपा का काल निर्धारण किया जाता रहा है कि सरहपा

[194] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 17

अमुक राजा के समय विद्यमान थे, वे अधिकांश संदिग्ध ही हैं। सरहपा को आदि सिद्ध भी कहना तथा उससे सरहपा का काल निर्धारण करना भ्रामक है क्योंकि अन्य संप्रदाय अन्य किसी सिद्ध को आदि सिद्ध मानता है। तिब्बती अनुश्रुतियों (तिब्बत में रहकर) तथा भारतीय ऐतिहासिक दस्तावेजों (ह्वेनसांग के भारत आगमन) में भी कई बातें साम्यता नहीं रखतीं। सिद्ध पर इस्लाम के आक्रमण का कोई जिक्र नहीं है। तत्कालीन शैव आदि राजाओं का बौद्धों पर अत्याचार का भी कोई वर्णन नहीं मिलता। ऐसी कई बातें सरहपा के विद्यमान रहने के समय को संदिग्ध में डाल देती हैं। सिर्फ सरहपा के होने की ही बात को अगर देखें तो, धर्मवीर भारती ने इस विषय की और अच्छे से व्याख्या की है-

"चक्रसंवर- तंत्र में सरह को आदिगुरु बताया गया है। किंतु कुछ परंपराओं में लुईपा को आदि सिद्ध कहा गया है। टुची ने भी यह संकेत किया है कि शांतरक्षित की एक रचना में लुईपा का उल्लेख है। यद्यपि यह लुईपा केवल उपाधि है या नाम इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। संभव है लुईपा सरह से पहले हुए हों, क्योंकि कुछ अम्नाय ऐसा मानते हैं। पुनश्च सरह के विषय में कई तरह के उल्लेख मिलते हैं। उनका नाम राहुलभद्र है। एक राहुल कामरूप के निवासी हैं और शूद्र हैं। दूसरे राहुलभद्र हैं और तीसरे उड़ीसा के एक ब्राह्मण हैं। इनमें से राहुलभद्र सरहपा कौन हैं, यह नहीं कहा जा सकता।"[195]

जब तक कौन राहुलभद्र सरहपा हैं, यह नहीं कहा जा सकता तबतक हम कैसे सरहपा, जिनको आदि सिद्ध घोषित कर दिए हैं, जिनको कभी रहस्यवादी तो कभी क्रांतिकारी घोषित कर दे रहे हैं, उनका निर्दिष्ट समय निर्धारण कर सकते हैं? राहुल जी ने जिसके आधार पर सिद्धों का वंश वृक्ष दिया है, उनके बारे में धर्मवीर जी ने लिखा है-

"राहुलजी ने सिद्धों का जो वंश-वृक्ष दिया है, उसका आधार उन्होंने तिब्बत के सस्क्य मठ के पाँच गुरुओं की ग्रंथावली सस्क्य ब्कम् बुम का आधार लिया है। इन गुरुओं का समय

---

[195] वही, पृ- 19

1091- 1279 ई. माना गया है, अतः यह तारानाथ से अधिक प्रामाणिक होगी, इनमें संदेह नहीं किया जा सकता। किंतु फिर भी जो कारण पहले गिनाए गए हैं, उनके आधार पर इसे भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।"[196]

स्वयं धर्मवीर भारती जी ने कई विद्वानों के तथ्यों से गुजरकर सरहपा का काल निर्धारण किया है कि **"इस प्रकार अन्य प्रामाणिक सामग्रियों के अभाव में अभी हम जो काल-परिधियाँ अनुमानित कर सकते हैं, वे इस प्रकार हैं- लगभग 800 ई. से 875 ई. सरहपा, शबरपा, लुईपा तथा उनके समकालीन सिद्ध।..."**[197]

निष्कर्षतः हम यह मान सकते हैं कि सरहपा जैसे महान् कवि के काल निरधारण आदि पर विचार करते वक्त हमें जल्दबाजी या अंध नहीं बनना चाहिए। सरहपा कई कारणों से महान् हैं। उनकी परंपरा इतनी बड़ी है कि उसमें अधिकांश भारतीय भाषाओं के आदिकाल व भक्तिकाल के बड़े कवि प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। सरहपा तथा सिद्धों की प्रतिक्रिया से गोरखनाथ जैसे नाथ आए। गोरखनाथ से ज्ञानदेव तथा नामदेव फिर कबीर- नानक आदि संत जुड़े हुए हैं। ओड़िशा में पंचसखा जो ऊपर से वैष्णव कहलाते हैं अंदर से प्रच्छन्न बौद्ध हैं और वे भी सरहपा की परंपरा में आते हैं। यहाँ तक कि जयदेव की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें सरहपा- काम, ज्ञान व रहस्य बन कर विद्यमान हैं।(इसकी अधिक संभावना है क्योंकि दोनों न सिर्फ पूर्वी-भारत के भूगोल से संबंध रखते हैं, अपितु गीति परंपरा से भी। हो न हो जयदेव में गीति-तत्व सरहपा आदि सिद्धों से अवश्य आया है।) उनकी कुछ पंक्तियाँ 'गुरुग्रंथ साहेब' में भी जुड़ी हुई हैं।[198] फिर यह और आगे बढ़ती, जो भीमभोई जैसे संत कवियों तक फैली हुई है। सरहपा ने अपनी परंपरा में न सिर्फ समय को लांघा है बल्कि भूगोल का भी अतिक्रमण किया है। विद्वानों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि सरहपा से संबंधित सबकुछ, वैज्ञानिक साक्ष्य आधारित हो। कुछ हो न हो,

---

[196] वही, पृ- 40

[197] वही, पृ- 45

[198] चतुर्वेदी पर्शुराम, *कबीर साहित्य की परख,* पृ- 15

कम से कम सही काल निर्धारण की कोशिश तो होनी ही चाहिए, जबतक यह संभव नहीं हुआ है तबतक किसी निर्दिष्ट नतीजे पर नहीं पहुँचना चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि धर्मवीर जी ने भी कोई निर्दिष्ट काल निर्धारण नहीं किया है, बल्कि काल परिधि में सरहपा के विद्यमान होने के समय को रखा है। किंतु तथापि यह कह पाना मुश्किल है कि सरहपा उपर्युक्त काल परिधि के अंतर्गत आते हैं। दरअसल निर्दिष्ट काल निर्धारण करना अभी कठिन है। क्योंकि सरहपा जैसे कवि की सारी रचनाएँ अभी प्राप्त नहीं हुई हैं, अतः उनके वर्तमान रहने के संबंध में कुछ भी पुख्ता नहीं कहा जा सकता। तब तक हमें सरहपा को लेकर यह निर्दिष्ट नहीं होना चाहिए कि सरहपा उक्त राजा या उक्त वर्ष विद्यमान थे। तिब्बत में अभी भी सरहपा को लेकर तथ्य विद्यमान हो सकते हैं। इस ओर अधिक शोध की आशा है।

सिद्ध सरहपा की काव्य-भाषा में हिंदी और ओड़िया भाषा के अंश

"यहाँ एक बात को हम और साफ कर देना चाहते हैं। हम जब इन पुराने कवियों की भाषा (सरहपा आदि की) को हिंदी कहते हैं, तो इसपर मराठी, ओड़िया, बांग्ला, असमी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा भाषियों को आपत्ति हो सकती है। लेकिन हमारा यह अभिप्राय हरग़िज नहीं है, कि यह पुरानी भाषा मराठी अदि की साहित्यिक भाषा नहीं है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है, जितना हिंदी भाषा-भाषियों को।"[199]

सरहपा की रचनाओं में जिस भाषा का इस्तेमाल हुआ है, वह हिंदी, ओड़िया, बांग्ला, असमिया, गोरखा आदि भाषाओं की जननी है। सरहपा की कविताओं के शब्द, रूप आदि व्याकरणिक कोटियाँ आज इन भाषाओं में हूबहू या फिर थोड़ी सी काया बदलकर अस्तित्व रखती हैं। उन कविताओं को एक

[199] सांकृत्यायन राहुल, *हिंदी काव्यधारा*, पृ-11

ओड़िया जब पढ़ता है, उनमें उसकी भाषा की प्रतिच्छवि नजर आती है, जब एक बांग्ला पढ़ता है तो उसे भी इनकी भाषा बांग्ला की पूर्वजननी लगती है, हिंदी के पाठक को उसमें हिंदी भाषा के अंश नजर आते हैं। किंतु हर चीज़ की तरह इसमें एक सीमा है, कि आप सरहपा की भाषा को किस हद तक अपनी मान सकते हैं और अपना मानना गलत नहीं, केवल अपना घोषित करना अवैज्ञानिक अवश्य है।[200]'आश्चर्यचर्याचय' में डॉ. करुणाकर कर ने कहा है-

"किसी भी भाषा के अनुशीलन के समय उसके ध्वनितत्व (Phonology), पद की बनावट (Morphology) तथा शब्दतत्व (Vocables) के बारे में आलोचना करने की ज़रूरत होती है।"[201] अतः सरहपा की पंक्तियों में इन तीनों तत्वों के सहारे हिंदी-ओड़िया भाषा के अंश को ढूँढा जा सकता है। किंतु ध्यान देने की आवश्यकता यह है कि इसके बावजूद हम यह कतई दावा नहीं कर सकते कि सरहपा ओड़िशा की एकछत्र धरोहर हैं या यह नहीं मानना चाहिए कि सरहपा हिंदी के ही कवि हैं।

सरहपा की पंक्तियों का हिंदी और ओड़िया की दृष्टि से भाषा-तात्विक अध्ययन किया जाएगा। इसकी चर्चा कई बार हो चुकी है कि हिंदी के विद्वानों का सरहपा की कविताओं से संबंधित आधार ग्रंथ है, राहुल जी के द्वारा संपादित 'दोहाकोश'। राहुल जी ने किस मनःस्थिति में 'दोहाकोश' का संपादन किया है, उसकी चर्चा हो चुकी है। राहुल जी ख़ुद सरहपा की कविताओं को लेकर कितने संशय में हैं, इसका भी प्रमाण मिल चुका है। राहुल जी संपादित दोहाकोश की अधिकांश पंक्तियाँ अनूदित तथा प्रक्षिप्त हैं, जो उनके अनुयायियों द्वारा संपादित हुई हैं। इसके संबंध में डॉ बागची का कथन द्रष्टव्य है, जिन्होंने उन पंक्तियों की वैज्ञानिकता पर आशंका जताई है-

---

[200] हरप्रसाद जी ने *'बौद्धगान ओ दोहा'* में लिखा है 'सरोरुहवज्रेर बांग्ला दोहाकोश'

[201] कर करुणाकर, *आश्चर्य चर्याचय*, पृ- 82

"The date of the translation cannot be definitely ascertained. It belongs probably to the 13^{th} century which was the period of the great activities, so far as the translation of the Tantrik texts is concered."[202]

राहुल जी ने सरहपा को भागलपुर में जन्मे, नालंदा में अध्ययन-अध्यापन किए, हिंदी का पहला कवि घोषित किया है। उन्हीं का अनुकरण लगभग अगे के अधिकांश विद्वानों ने किया है। राहुल जी ने दोहाकोश का संपादन 1934 ई. में मिली प्रति के अनुकरण से किया है, जिन्हें उन्होंने स.स्क्य मठ से उद्धार किया था।[203] राहुल जी ने लिखा है- **"सरह की मूल भाषा में ग्रंथ एकाध ही मिले।"**[204]

यानी सरहपा के नाम से प्रचलित संपूर्ण कविता मूल रूप से सरहपा के होना संदेहास्पद है।

राहुलजी ने बताया है कि **"दोहाकोश की भाषा में लिपिकों ने समयानुसार सुधार करने की कोशिश की। इसके कारण भिन्न-भिन्न हस्तलेखों में अंतर आता गया..."**[205] अतः यह बता पाना लगभग मुश्किल है कि सरहपा की कविताओं की मूल भाषा क्या थी। यह तो तय है कि उनकी भाषा अपभ्रंश अवश्य थी। राहुल जी ने भी यह मानकर 'दोहाकोश' का 24 पृष्ठों में भाषा-तात्विक अध्ययन किया है और निम्नलिखित नतीजे पर पहुँचे हैं। उन्होंने सरहपा की भाषा को अपभ्रंश कहा है- **"हम बतला चुके हैं, कि सरह की भाषा अपभ्रंश अपनी शब्दावली और उच्चारण में यद्यपि पूरी तौर से प्राकृत की अनुयायिनी नहीं है, लेकिन बहुत सी बातों में वह आधुनिक भाषाओं का पथ प्रदर्शन करती है। इनमें प्रयुक्त संस्कृत-वंश से भिन्न भाषा के देशी (द्रविड़ आदि) शब्द बहुत से आज भी प्रयुक्त होते हैं और कितने ही शब्द के रूप इसे आधुनिक भाषाओं से एक करते हैं।..."**[206] उपर्युक्त कथन से एक बात अवश्य पता चलती है कि राहुल जी ने सरहपा के भाषा

---

[202] Materials for etc. Introduction- VI, महापात्र खगेश्वर, *चर्यागीतिका*, पृ- 16

[203] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 67

[204] वही,पृ-61

[205] वही,पृ-39

[206] वही, पृ-65

तात्विक अध्ययन करते वक्त उन्हें 'हिंदी' नहीं कहा है, बल्कि उनकी भाषा को आधुनिक भाषाओं की जननी कहा है।

सरहपा से संबंधित 4 पंक्तियाँ 'बौद्धगान ओ दोहा' के अंतर्गत 'चर्याचयविनिश्चय' में उद्धृत हैं तथा एक अलग सा अध्याय 112 छंदों का एक संग्रह 'सरोरुहवज्रेर बांग्लाभाषा दोहाकोश' नाम उनकी पंक्तियाँ संगृहीत हैं, जिसके साथ अद्वयवज्र की 'सहजाम्नाय पंजिका' नामक टीका भी है। पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह स्थिरमति नाम के पंडित के लिए उदयभद्र नामक लेखक ने लिपिबद्ध किया था।[207] हरप्रसाद शास्त्री, बागची के संगृहीत गीत और दोहों को ओड़िया के विद्वानों ने अपनी आलोचना का आधार बनाया है। हिंदी में सरहपा के दोहों का संकलन राहुल जी ने किया। यहाँ ओड़िया तथा हिंदी में आईं ,सरहपा की चुनी हुई कुछ कविताओं का हिंदी और ओड़िया के परिप्रोक्ष्य से भाषातात्विक अध्ययन किया जाएगा, जिसके अंतर्गत ओड़िया के शब्द, रूप, शैली तथा व्याकरणिक कोटियों का संक्षेप में विश्लेषण होगा।

बौद्धगान ओ दोहा की 22 वीं चर्या को उद्धृत किया जाए, जो सरहपा की है-

''अपणे रचिरचि भवनिर्वाणा/मिछे लोअ बंधाबए अपणा।।

अम्हे ण जाणहु अचिंत जोई।/जाम मरण भव कइसन होई।

जइसो काम मरण बि तइसो/जीवंते मइलें नाहि बिशेसो।।

जाएथु जाम मरणे बिसंका।/सो करउ रसाने रे कंखा।।

जे सचराचर तिअस भमंति।/ते अजरामर किंपि न होंति।।

जामे काम कि कामे जाम।/सरह भणंति अचिंत सो धाम।।''[208]

[207] भारती धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य*, पृ- 2

[208] महारणा सरेंद्र कुमार, चर्यागीति, पृ- 136

उपर्युक्त पंक्तियों में अपणे(आपणे), रचि, भव(भब), निर्वाण(निर्बाण), मिछे, लोअ(लोक), अम्हे(आम्हे/ आम्भे), ण(न), जाणहु, कइसन, होई, जइस, तइस, अजरामर, किंपि(किंपा), होंति(हुअंति), भणंति आदि पद आज भी ओड़िया में हूबहू या थोड़े बदलकर व्यवहृत होते हैं।ये शब्द निस्संदेह हिंदी से अधिक ओड़िया के निकट ठहरते हैं। इनमें 'मिछे', किंपा शब्दों का इस्तेमाल केवल ओड़िया में ही होता है। इसके अलावा ओड़िया के आगे के साहित्य में व्यवहृत उपर्युक्त शब्दों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं-

"मिछे सिना मली डाकि डाकि हे चकाआखि...", देबंक संगे किंपा कळि..., भणइ बिप्र जगन्नाथ..., जेणे तुटइ बिष्णु माया,कह आम्भंकु जेबे दया.../ आम्भे पचारु जन हिते..., एणु ए भागबत जेहि, श्रबण मात्रे भक्ति होई..., जइसा कु तइसा, हारमजादा कु टांगिआ फसा, रचिले ब्रह्माण्ड..., होंति आत-जात... आदि।

सरहपा की कुछ और पंक्तियों की ओर हम ध्यान दे सकते हैं, जिनमें काफी शब्द ओड़िया में हूबहू इस्तेमाल होते हैं-

पंडिअ सअल सत्त बखाणई/ देह ही बुद्ध बसंत न जाणई, जहिं मन पवन न संचरई/ रवि- ससि नहिं पबेस/ तहिं बत चित्त विसाम करू/ सरहे कहेउ उबेस... आदि कई पंक्तियों में कई ऐसे शब्द हैं, जो आगे के ओड़िया साहित्य में व्यवहृत होते आए हैं।

डॉ. करुणाकर कर ने 'आश्चर्यचर्याचय' में 'बौद्धगान ओ दोहा' में स्थानित चार दोहों में ओड़िया भाषातत्व की खोज की है और बताया है-

मिच्छेँ, अम्हे, जाणहुँ(जाणई), बंधाबए(बंधाए), कइसण(केसने), जइसा/ जइसो, तइसा/तइसो, जीबंते, मइँले, जे, ते, होंति, छाड़ि, लेमुँ, जाहु(लेउजाउ), लेउ, त, नाबड़ि(नाबटि), खांटि, केलुआळ, करि, धरहु(धरु) आन उपाये जाइ, जाउ, आनें, बळुअ(बळुआ), बोळिआ, लइ, उपाअ, समाअ,

तोहोरि, थाकिब, दिशइ, अछंते, गिलेसि, घरे, परेक, बुझिले, खाइब, मइ(मुइँ) आदि शब्द ओड़िया में हूबहू तथा लगभग बदलकर व्यवहार हो रहे हैं।

व्याकरणिक दृष्टि से सरहपा की पंक्तिओं का विश्लेषण किया जाएगा। करुणाकर कर जी ने सरहपा की चर्याओं की छानबीन करते हुए निम्नलिखित तथ्य दिए हैं-

"ओड़िया भाषा की तरह सरहपाद की पंक्तियों में असमापिका क्रियाएँ 'इ- कारांत' हो गई हैं- छाड़ि, करि, लइ, जाइ आदि...। ओड़िया भाषा में जैसे भविष्यत् काल में क्रिया 'इब' प्रत्यय द्वारा निर्दिष्ट होती है, वैसे ही सरहपा की पंक्तियों में 'इब' प्रत्यय लगे हुए हैं- 'खाइब'। अनुज्ञा अन्य पुरुष बहुवचन में 'उँ' प्रत्यय का व्यवहार होना ओड़िया की अपनी विशेषता है। ये भी सरहपा की कविताओं में मिलता है- जाणहुँ, लेहु, जाउ आदि। ओड़िया भाषा में कार्य-कारण संबंध को दर्शाने के लिए शतृ(?) प्रत्यांत क्रिया और 'क्त' या 'ला' तथा 'इल' प्रत्ययांत क्रिया सप्तमी विभक्ति हो जाती है। ये ओड़िया भाषा की अपनी विशेषता है। दूसरी किसी भाषा में ये देखने को नहीं मिलता। सरहपा की कविताओं में ये देखने को मिलती है- 'जीबंते'(चर्या-22), अछंते(चर्या-39)। सरहपा की कविताओं में ओड़िया सर्वनाम के प्रयोग देखने को मिलते हैं- अमहे, कइसण, जे, ते, तोहोर, मइ आदि। सरहपा की कविताओं में ओड़िया की इतनी सारी विशेषता होने के कारण सरहपा खांटी ओड़िया थे और उनकी कविताएँ ओड़िया भाषा में लिखी गई थीं।"[209]

उपर्युक्त पंक्तियों में कर जी ने घोषित ही कर दिया है कि सरहपा ओड़िया हैं। यह सच है कि सरहपा की पंक्तियों में ओड़िया भाषा, शब्द, व्याकरण आदि के अंश विद्यमान हैं। परवर्ती ओड़िया साहित्य तथा लोक में उन तत्वों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। किंतु इससे दृढ़ता के साथ यह कतई नहीं कहा जा सकता की सरहपा सिर्फ और सिर्फ ओड़िया के कवि हैं। सरहपा के नाम से दोहे मिलते हैं, जो विभिन्न विद्वानों के द्वारा 'दोहाकोष' नामों से संकलित हैं। उनकी कुछ चर्याएँ 'बौद्धगान ओ दोहा' में

---

[209] कर करुणाकर, *आश्चर्यचर्याचय*, पृ- 24

भी संगृहीत हैं। दोहाकोश में संगृहीत पंक्तियों से अधिक बौद्धगान ओ दोहा में संकलित पंक्तियाँ प्रमाणिक तथा सरहपा की लगती हैं क्योंकि उनमें सरहपा का नाम आया है।[210] काफी दोहों के अनुवाद मिलते हैं, मूल अप्राप्य हैं। किंतु चर्याएँ अक्षुण्ण लगती हैं। सबसे बड़ी बात अधिकांश दोहे, सरहपा के तिरोधान के बाद संगृहीत हुए हैं। अतः दोहों के आधार पर यह दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता है कि सरहपा ओड़िया थे, न बांग्ला के न ही हिंदी के अपने हैं। आगे जो 'दोहाकोष' की पांडुलिपि के उद्धरण हैं, वे निश्चय ही ओड़िया लिपि से अधिक निकट ठहरती हैं। इसका यह कारण हो सकता है कि सरहपा की कविताओं के संकलनकर्ता कोई ओड़िया हो सकता है या फिर तबकि प्रचलित लिपि, बांग्ला या देवनागरी के मुक़ाबले आधुनिक ओड़िया लिपि के अधिक निकट ठहर सकती है।

किंतु इसे इनकार नहीं किया जा सकता है कि सिद्ध सरहपा की पंक्तियों में व्यवहृत कई शब्द-रूप परवर्ती तथा संप्रति ओड़िशा मिट्टी में प्रयोग में आ रहे हैं। इनकी मात्रा हिंदी तथा बांग्ल से अधिक है। सबसे बड़ी बात कई कारक-विभक्तियाँ की है, जो परवर्ती ओड़िया साहित्य तथा आज ओड़िया का अंग बन गई हैं।

<u>सिद्ध सरहपा के दोहाकोश की लिपि</u>

अब सरहपा की रचनाओं की लिपि पर बात होगी। 'दोहाकोष' की लिपि पर बंशीधर महांति ने जो तथ्य दिया है, वह उसकी पहचान को बांग्ला या देवनागरी से अधिक आधुनिक ओड़िया से जुड़ रही है। बंशीधर जी ने लिखा है-

''महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद द्वारा हिंदी छायानुवाद के साथ 'दोहाकोष' का संपादन हुआ है। 'दोहाकोष' के गीत-समूह सरहपा के द्वारा लिखा गया है(?)। प्रचीन

[210] सरहप भणति(चर्या-22),सरह भणंति(चर्या-39) आदि

ताळ-पत्र में 'दोहाकोष' की जो लिपि प्रकाशित हुई है, उन्हें देखने से आश्चर्य लगता है कि उसकी अधिकांश लिपि ओड़िया लिपि के साथ समान हैं। अधिकांश अक्षरों के ऊपर आधुनिक ओड़िया अक्षरों जैसे वृत्त विद्यमान हैं। प्राक् बांग्ला लिपि की वह अगली अवस्था है और आधुनिक ओड़िया लिपि के निकट ठहरती है।"[211]महांति जी ने अपनी पुस्तक में उन लिपियों का उदाहरण पेश किया है,जिन्हें आगे उद्धृत किया जा रहा है-

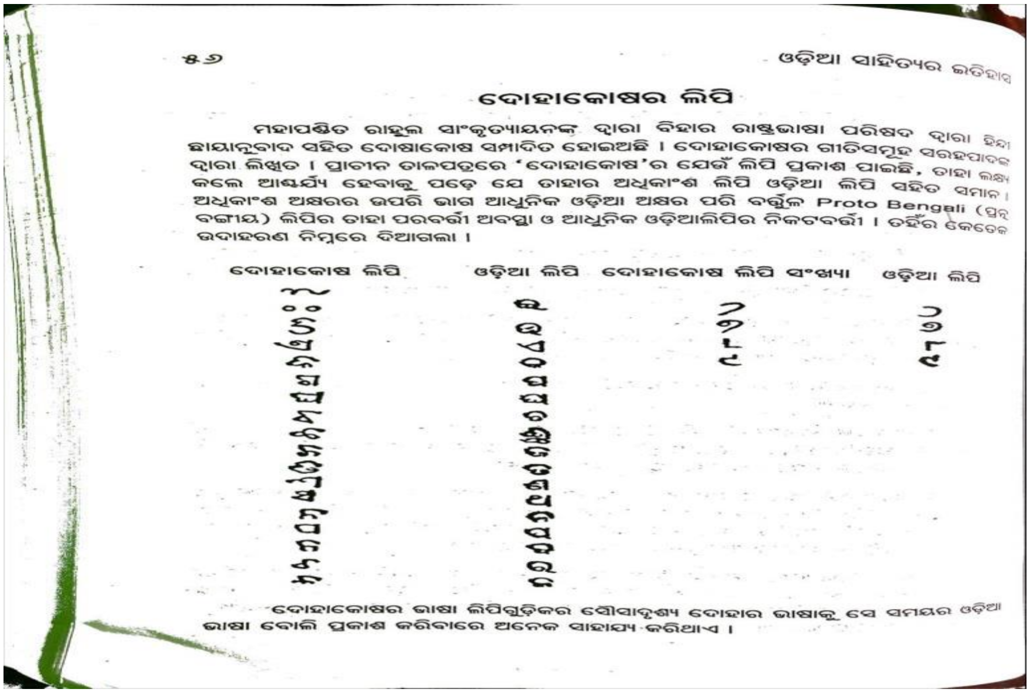
୫୬ ଓଡ଼ିଆ ସାହିତ୍ୟର ଇତିହାସ

ଦୋହାକୋଷର ଲିପି

ମହାପଣ୍ଡିତ ରାହୁଲ ସାଂକୃତ୍ୟାୟନଙ୍କ ଦ୍ୱାରା ବିହାର ରାଷ୍ଟ୍ରଭାଷା ପରିଷଦ ଦ୍ୱାରା ହିନ୍ଦୀ ଛାୟାନୁବାଦ ସହିତ ଦୋଷାକୋଷ ସମ୍ପାଦିତ ହୋଇଅଛି । ଦୋହାକୋଷର ଗୀତିସମୂହ ସରହପାଦଙ୍କ ଦ୍ୱାରା ଲିଖିତ । ପ୍ରାଚୀନ ତାଳପତ୍ରରେ 'ଦୋହାକୋଷ'ର ଯେଉଁ ଲିପି ପ୍ରକାଶ ପାଇଛି, ତାହା ଲକ୍ଷ୍ୟ କଲେ ଆଶ୍ଚର୍ଯ୍ୟ ହେବାକୁ ପଡ଼େ ଯେ ତାହାର ଅଧିକାଂଶ ଲିପି ଓଡ଼ିଆ ଲିପି ସହିତ ସମାନ । ଅଧିକାଂଶ ଅକ୍ଷରର ଉପରି ଭାଗ ଆଧୁନିକ ଓଡ଼ିଆ ଅକ୍ଷର ପରି ବର୍ତ୍ତୁଳ Proto Bengali (ପ୍ରତ୍ନ ବଙ୍ଗୀୟ) ଲିପିର ତାହା ପରବର୍ତ୍ତୀ ଅବସ୍ଥା ଓ ଆଧୁନିକ ଓଡ଼ିଆଲିପିର ନିକଟବର୍ତ୍ତୀ । ତହିଁର କେତେକ ଉଦାହରଣ ନିମ୍ନରେ ଦିଆଗଲା ।

ଦୋହାକୋଷ ଲିପି | ଓଡ଼ିଆ ଲିପି | ଦୋହାକୋଷ ଲିପି ସଂଖ୍ୟା | ଓଡ଼ିଆ ଲିପି

ଦୋହାକୋଷର ଭାଷା ଲିପିଗୁଡ଼ିକର ସୌସାଦୃଶ୍ୟ ଦୋହାର ଭାଷାକୁ ସେ ସମୟର ଓଡ଼ିଆ ଭାଷା ବୋଲି ପ୍ରକାଶ କରିବାରେ ଅନେକ ସାହାଯ୍ୟ କରିଥାଏ ।

इनमें इ-ଇ, उ-ଉ, ए-ଏ, क-କ, ग-ଗ, घ-ଘ, च-ଚ, छ-ଛ, ज-ଜ, त-ତ, ण-ଣ, थ-ଥ, न-ନ, प-ପ, ब-ବ, र-ର, ळ-ଳ प्रमुख वर्ण हैं, जिनका प्रयोग दोहाकोश की पांडुलिपि में हुआ है, और ये ओड़िया लिपि के अधिक निकट ठहरते हैं। आधुनिक तिब्बती लिपियाँ यद्यपि ओड़िया तथा हिंदी की तरह ब्राह्मी लिपि से विकसित हुई हैं, किंतु दोहाकोश की लिपियों से वे भिन्न प्रतीत होते हैं, जबकि दोहाकोश की रचना तिब्बती में हुई है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त लिपों के तिब्बती रूप यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। इ-ཨི, उ- ཨུ, ए- ཨེ , क- ཀ , ग- ག , घ- གྷ , च- ཙ , छ- ཚ , ज- ཛ , त- ཏ, ण- ཎ , थ- ཐ , न- ན , प- པ ,

211 महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ- 56

ब- ব , र- ར , ळ- (ळ तिब्बती में नहीं है, हिंदी में भी इसका इस्तेमाल नहीं होता)। इस तरह दोहाकोश की कई लिपियाँ ओड़िया लिपि से नज़दीकी रखती हैं।

सिद्ध सरहपा से संबंधित प्रत्नतात्विक साक्ष्य:-

नवीन कुमार साहु जी ने एक तथ्य दिया है, जो राहुलरुचि के समयकाल का विवरण प्रस्तुत करता है, साथ ही उनका ओड़िशा से संबंध को भी प्रमाणित करता है(यथास्थान इसकी चर्चा पहले से हो चुकी है, अब व्यापकता से इसपर बात होगी)। सुरेंद्र कुमार महारणा ने 'चर्यागीति' में नवीन कुमार साहु जी की उक्ति को उद्धृत किया है-

''ओड़िशा म्यूजियम में सुरक्षित एक पद्मपाणि अवलोकितेश्वर मूर्ति की पादपीठिका में उत्कीर्णित अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि महामंडलाचार्य परमगुरु राहुलरुचि के द्वारा इस मूर्ति को शुभाकर देव के राज्यकाल में प्रतिष्ठित किया गया था। ये राहुलरुचि सिद्ध सरहपा हैं। शुभाकर देव का समय 790-839 के बीच निरूपित है। अतः सरहपा 8वीं शताब्दी के अंतिम चरण या 9वीं शताब्दी के प्रारंभ में विद्यमान थे।''[212]

एक तो उपर्युक्त तथ्य पादपीठिका में नहीं मूर्ति के बगल में उत्कीण्त है, दूसरा मूर्ति के नीचे 7 वीं शताब्दी (अनुमान से) तथा प्रप्ति स्थान- बिहार लिखा गया है। इस से यह पता चलता है कि नवीन कुमार जी ने उस मूर्ती को नहीं देखा था। संग्रहालय की प्रबंधक भारती पाल जी से मुझे एक ग्रंथ का पता चला, जिसमें इस मूर्ति में उत्कीर्णित अभिलेख के संबंध में जानकारियाँ उपलब्ध हैं। ग्रंथ का नाम है- 'इन्स्क्रीपशन ऑफ भौमकर : खड़ीपड़ा इन्स्क्रीपशन' (एस. त्रिपाठी)। साहु जी ने शायद इस ग्रंथ की सहायता ली है। महारणा जी ने भी शायद स्वयं उस मूर्ति को नहीं देखा था। उन्होंने साहु जी के कथन को बिना जाँच किए उद्धृत कर दिया था। मैंने स्वयं संग्रहालय में जाकर उस मूर्ति की जाँच की है और सौभाग्य से मुझे वह मूर्ति भी देखने को मिली है। मैंने उसकी कुछ तस्वीरें खींची हैं, जिनमें मूर्ति, उसकी बाईं तरफ

---

[212] महारणा सुरेंद्र कुमार, *चर्यागीति*, पृ- 80

उत्कीर्णित अभिलेख मौज़ूद है। किसी भी इतिहासकार ने उस मूर्ति की तस्वीर अपने ग्रंथ में नहीं दी है। सभी ने तथ्य के मामले में एक दूसरे का केवल अनुकरण किया है। मूर्ति के अक्षर और दोहाकोश के अक्षर में काफी समानताएँ हैं। मैं उस मूर्ति की खींची हुई तस्वीरों को शोध आलेख के अंत में उद्धृत करूँगा। उस मूर्ति के नीचे 7 वीं शती लिखा हुआ है, जो अनुमानाश्रित है। बहरहाल क्योंकि इतिहास में कई सरहपा के होने का ज़िक्र मिलता है, अतः यह कह पाना मुश्किल है, राहुलरुचि कितने क्रम में आने वाले सरहपा हैं। हाँ, बाक़ी सारे सरहपा से राहुलरुचि का समय पहले आता है, अतः ये राहुलरुचि आदि सिद्ध सरहपा हो सकते हैं। मूर्ति के नीचे उसके प्राप्ति का स्थान बिहार लिखा हुआ है और समय 7 वीं शती लिखा हुआ है। राहुलरुचि- बिहार तथा शुभाकर देव- ओड़िशा, दोनों को यह मूर्ति जोड़ती है। सरहपा से संबंधित होने के कारण, उनसे जुड़ी यह इकलौती ऐसी सामग्री है, जिसे प्रथमिक साक्ष्य के अंतर्गत रखा जा सकता है। जिन सरहपा की रचनाएँ नेपाल और तिब्बत में मिलती हैं, उन्हीं की मूर्ति भुवनेश्वर म्यूज़ियम में संगृहीत हैं। अनुश्रुतियाँ उन्हें नालंदा बिहार से जुड़ती हैं, इतिहासकार उन्हें पाल तथा भौमकरों से जोड़ते हैं, वे स्वयं हिंदी तथा ओड़िया के भक्तिकाव्य से जुड़े हुए हैं। इतना सबकुछ होने के बावज़ूद सरहपा किसी एक जाति या भूमि की संपत्ति कैसे हो सकते हैं?

किंतु उपर्युक्त तथ्य एक प्रश्न पैदा करता है कि जिस सरहपा (राहुलरुचि) का नाम इस मूर्ति में उत्कीर्ण है, वह क्या सरहपा हैं, या छोटे सरहपा यानी शबरिपा हैं? या फिर कोई और भी सरहपा थे? पहले से ही इसपर काफी चर्चा हो चुकी है कि राहुलभद्र और शबरपा, दोनों को कुछ अनुश्रुतियाँ एक ही नाम यानी 'सरहपा' नाम बताती हैं। भारती जी, कारदेयर साहेब और कई अन्य तथ्यों की छानबीन करने से यह अवश्य महसूस होता है कि शायद 'सरहपा' एक उपाधि या पदनाम है।

परवर्ती हिंदी तथा ओड़िया भक्तिकाव्य परंपरा में सिद्ध सरहपा के अवशेष का संक्षिप्त परिचय-

"सरह के अनुयायी आज भी तिब्बत में भारी संख्या में मौज़ूद हैं। संतों ने बहुत-सी सरह की बातें ले ली हैं, यह भी सत्य है। इस लिए कहा जा सकता है, सरह की परंपरा भारत से अब भी उच्छिन्न नहीं हुई है।" [213]

गंगा हिमालय से निकलती है और रत्नाकर में मिल जाती है। अपने उद्गम से लेकर मिलन तक उसे कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। उसमें कई नदियाँ अपने आप को पराभूत करती हैं। वह कई नदियों से मिलकर बहती रहती है। फिर सागर में जाकर मिल जाती है। सागर में मिलने के साथ उसका यद्यपि भौतिक अंत हो जाता है किंतु वह कभी नहीं मरती। अन्य सैकड़ों नदियों के साथ मिलकर रत्नाकर को विशाल और विशाल बनाती है। एक तरह से वह उसमें जीवित रहती है। सरहपा उस गंगा के समान हैं, जिनका उद्गम एक संधि-पृष्ठ से हुआ था। उनकी जीवन-सरित ने आजीवन कई बाधाओं को पार किया और आख़िरकार भक्तिकाल रूपी रत्नाकर में अपने आप को विलीन कर दिया। अतः यह हमें कतई नहीं भूलना चाहिए कि सरहपा का महत्व भक्तिकाल में अक्षुण्ण है।

इतिहास कहता है कि सरहपा आदि सिद्धों का अंत हो गया है, किंतु साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है, सिद्धों का अंत नहीं हुआ है, उन्होंने अपने विचारों को भक्तिकालीन संत-वैष्णव कवियों को दान किया है। सिद्ध तथा सरहपा का ओड़िया के वैष्णव कवियों से संबंध की चर्चा बंशीधर जी ने की है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सिद्ध तथा सरहपा का अंत नहीं हुआ है, उन्होंने आगे के भक्ति साहित्य में अपने आप को जीवित रखा है। बंशीधर महांति ने बिल्कुल ठीक ही लिखा है-

"... वैष्णव सहजिया गण इतनी दूर तक यद्यपि गए नहीं हैं, किंतु वे ईश्वर से अधिक मनुष्य को श्रेष्ठ मानते हैं। उभय बौद्धों और वैष्णवों के बीच तांत्रिकता विद्यमान है। नाड़ी, चक्र, योगिनी आदि पारिभाषिक शब्दों का वर्णन वैष्णव तथा बौद्ध सहजिया साहित्य में दिख जाता है। बौद्ध सहजिया तथा वैष्णव सहजिया साहित्य में गुरुवाद को प्रधानता दिया गया है। बौद्धगान

[213] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश,* पृ- 37

ओ दोहा के विभिन्न स्थलों में गुरुकृपा के ऊपर सभी साधनाएँ निर्भर हैं। यहाँ तक कि कहा गया है कि गुरु बुद्ध से भी बड़ा होता है। हिंदू धर्म तथा दर्शन में तथा उपनिषद् आदि ब्रह्मविद्या शिक्षा में गुरुवाद को प्रधान स्थान प्राप्त है। ओड़िया पँचसखा साहित्य सहजिया बौद्धधर्म से ओतप्रोत रूप से प्रभावित है।... "[214]

सरहपा ने अपने आप को हिंदी तथा ओड़िया के भक्तिकाल में जीवित रखा है। यह सुखद आश्चर्य है कि यहाँ तक कि तुलसीदास के राम भी ईश्वर नहीं एक मनुष्य हैं। यह ईश्वरवाद नहीं मनुष्यवाद है, कहीं न कहीं सिद्धों से इस विचार-सरिता का उद्गम हुआ है।तुलसी दास ने बालकांड में ऐसी पंक्तियाँ कही हैं, जो निर्गुण से विरोध नहीं संवाद कर रही हैं- "सगुणहि अगुणहि नहिं कछु भेदा/गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा/ अगुन अरूप अलख अज जोई/ भगत प्रेम बस सगुण स होई"[215] तथा "बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना/ कर बिनु करम करइ बिधि नाना/ आनन रहित सकल रस भोगी/ बिनु बानी बकता बड़ जोगी"[216]। कबीर आदि ने तो सरहपा तथा सिद्धों को कुछ हद तक नकारते हुए भी मानो अपने पथ-प्रदर्शक मान लिया है। ओड़िया के पँचसखा कविगणों का ज़िक्र हो चुका है। भीमभोई आदि संत भी सरहपा की विचार परंपरा में विद्यमान हैं। जयदेव से लेकर सूरदास तथा मीरा तक सिद्धों तथा सरहपा की विचार परंपरा से चाहे छूट जाते हैं किंतु चर्यागीतों के रूप में काव्य परंपरा में अवश्य अपने आप को जाने-अनजाने जोड़ ही लेते हैं। गुरु ग्रंथ साहेब में जयदेव की पंक्तियों के विद्यमान का ज़िक्र पहले ही हो चुका है। इस तरह सरहपा सिद्धों के साथ हिंदी व ओड़िया भक्तिकाव्याकाश से परोक्ष व प्रत्यक्ष रूप से संलग्न हैं।

सिद्ध सरहपा अखिल-भारोपीय भाषा परिवार के प्रतिनिधि कवि तथा आदिकवि हैं, जिनमें आधुनिक भारतीय भाषाओं के शब्द-रूपों के साथ-साथ द्रविड़ आदि के शब्द-रूप भी विद्यमान हैं। राहुल जी को मानें तो यद्यपि सिद्धों की भौतिक परंपरा कालपा और कुंठालिपा (ग्यारहवीं सदी के पुर्वार्द्ध) में ख़त्म हो गई, किंतु विचार, काव्य-वस्तु और काव्य-भाव आदि के मामले में सरहपा की परंपरा

---

[214] महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास,* पृ- 21

[215] amp.bharatdiscovery.org

[216] amp.bharatdiscovery.org

अविच्छिन्न है। पहले बताया जा चुका है, सिद्ध सरहपा की परंपरा की प्रतिक्रिया से नाथों का अभ्युदय हुआ। नाथों से हिंदी तथा ओड़िया के संत साहित्य का संबंध बन गया। जिस तरह कबीर आदि संतों पर सरहपा का प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार ओड़िया के पंच-सखाओं से लेकर भीम-भोई आदि संतों तक सरहपा से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। उभय कबीर आदि संतों समेत ओड़िया के भक्त कवियों ने 84 सिद्धों को आदर पूर्वक याद किया है-

कबीर कहते हैं-

धरती अरु असमान विचि, दोइ तूबड़ा अबध।

षट दरसन संसा पड़्या, अरु चौरासी सिद्ध।[217]

बंशीधर जी ने अपने इतिहास में ओड़िया साहित्य में उद्धृत चौरासी सिद्धों की चर्चा करते हुए लिखा है- **"... इसके अलावा, 'चौरासी' सिद्धों के बारे में बहु कल्पित कथा, ओड़िया साहित्य में मिलती है। अच्युतानंद, बलराम तथा यशोवंत दास आदि ने अपनी रचनाओं के विभिन्न स्थानों में चौरासी सिद्धों की बात कही है।..."**[218]

सरहपा के गुरु संबंधी विचार सिर्फ तिब्बत तथा नेपाल में विद्यमान नहीं है, ओड़िया तथा हिंदी आदि भाषाओं के कवियों में भी यह वरीयता से विद्यमान हैं। सरहपा ने गुरु के वचन को सर्वोपरि माना है, उन्होंने कहा है-

सुइणें ह अबिदारअ रे निअ मन तोहोरें दोसे/ गुरु बअण बिहारे रे थाकिब तइ घुंड कइसे...[219]

इसके अलावा उन्होंने गुरु के वचन के मार्ग पर चलने की नसीहतें दी हैं, जिससे काया नाव भव सागर से पार हो सकती है- "काअ णाबड़ि खाँटि मण केडुआळ/ सद्गुरु बअणे धर पतबाळ..."[220] ओड़िया

---

[217] दास श्यामसुंदर, *कबीर ग्रंथावली*, पृ- 54

[218] महाति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*,पृ- 73

[219] महापात्र बंशीधर, *चर्यागीतिका*, पृ- 133

[220] वही, पृ- 131

के वैष्णव कवि जगन्नाथ दास ने गुरु के संबंध में कहा है- मन तोहर निज गुरु/ उद्धव केते तु पचारु तथा गुरु कुं न मणिब नर/ गुरु हिं साक्षाते ईश्वर। कबीर आदि ने भी गुरु को गोविंद से ऊपर समझाते हुए उन्हें सर्वोपरि माना है। गुरु गोविंद दोउ खड़े, काको लागो पाए/ बलिहारि गुरु आपने गोविंद दिओ दिखाए।

सरहपा ने सहजता को महत्व देते हुए कई पंक्तियाँ लिखीं हैं-जइ जग पुरिअ सहजाणंदे, णाच्चहु गाअहु विलसहु चंगे।[221] जगत् सहजानंद से भरपूर है, अतः नाच-गा कर जीवन व्यतित करो। वे एक और जगह लिखते हैं- ‘‘अदभूअ भवमोह रे दिसइ पर अप्पणा/ ए जग जळ बिंबिका रे सहजे सुण अपणा।।’’[222] सुखद आश्चर्य है, गुरु गोरखनाथ ने हठ योग के साथ-साथ सरहपा के अनुकरण से सहजता को वरीयता दी है। हम तब और अचरज में पड़ जाते हैं जब उनके सहज रहने संबंधित एक पंक्ति के शब्द हूबहू ओड़िया के लगते हैं- ‘‘हसिबा षे(खे)ळिबा रहिबा रंग/ काम क्रोध न करिबा संग। हसिबा षेळिबा गाइबा गीत/ दिढ़करि राषि आपना गीत।’’ [223]

कबीर ने भी सहजता को वरण करने की बात अग्र-पंक्तियों में की है- ‘‘अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्मगियान, सहज समाधें सुख में रहिबो, कोटि कलप विश्राम।’’[224]

ओड़िया में ‘सहज’ शब्द के प्रयोग की झड़ी लग गई है। सरहपा के बाद के कवियों ने जगह-जगह सहजता को विभिन्न संदर्भ में रेखांकित किया है- ‘‘जोती छाया अबाड़ से सहज समाधि, प्रति अंगे कहिअछुँ साधना जे विधि।...बाहारे मो नाना पूजा बिधि मान होई, मनर सहज सेबा न जाणंति केहि।।[225]इनके अलावा सहज से संबंधित एक और पंक्ति द्रष्टव्य है- ‘‘नामसूत्र सहज कु बारिबु येथिरे, ब्रंह्माण्ड सहज जाक संभाइ जहिंरे।’’[226]

---

[221] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 25

[222] महारणा सुरेंद्र कुमार, *चर्यागीति*,पृ- 161

[223] महापात्र बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ-127

[224] दास श्यामसुंदर,*कबीर ग्रंथावली*- पृ- 89

[225] महांति बंशीधर, *ओड़िया साहित्य र इतिहास*, पृ-78

[226] वही, पृ- 80

सरहपा ने दान और परोपकार को संसार में सबसे महत् कार्य घोषित किया है। उन्होंने कहा है-

जो अत्थीअण ठीअउ, से जइ-जाइ णिरास/खंड सरावें भिक्ख बरु, च्छ(च्छा)डहु ऐ गिहवास।

पर उआर ण कीअउ, अत्थि ण दीअउ दाण/एहु संसारे कवण फलु, बरु छड्डहु अप्पाण। [227]

ओड़िया के आधुनिक काल के अंध-संत-कवि भीमभोई में परोपराक की यह भावना ओतप्रोत रूप से भरी हुई है-"प्राणींक आरत दुख अप्रमित, देखुदेखु केबा सहु। मो जीवन पछे नर्के पड़ि थाउ(थाकना)/ जगत उद्धार हेउ"

सरहपा ने अपनी कुछ पंक्तियों में रहस्य के प्रयोग से गूढ़ अर्थ प्रतिपादन करने बाली बात कही है। विद्वान इस शैली को संधा भाषा कहते हैं। जो आगे संत काव्य परंपरा में 'उलटबासी' नाम से परिचित है। सूरदास ने जो 'दृष्टकूट' का इस्तेमाल किया है, वह भी 'संधा-भाषा' तथा 'उलटबासी' के समकक्ष ठहरता है। ओड़िया में भी इस तरह की पंक्तियाँ भरपूर लिखी गई हैं।

बौद्धगान ओ दोहा की 39 चर्या में सरहपा ने लिखा है-

"अमिअ अच्छंते विस गिलेसि रे चिअ परवस अपा,

घरे परे का बुज्झिले मारि खाइब मुइ दुठ कुंडबा,

सरह भणंति बर सुण गोहाली, कि मो दुठ बळंदे,

एकले जग नाशिअ रे बिहरहु सुच्छंदे।"[228]

ओड़िया भागवत में जगन्नाथ जास जी ने कुछ इसी शैली का प्रयोग किया है- "ओलट बृक्षे खेलूछि लोटणि पारा।" इस पंक्ति को मैं बचपन से ही कीर्तन के साथ सुनता-गाता आया हूँ। एक और पंक्ति द्रष्टव्य है- "बेंग माड़ि अछि झुमुकी कठउ शृगाल होइछि राजा/कलिकतरा जे मंत्री होइ अछि, हाती की करि परजा।/बलद बापुड़ा घर छाउ अछि, दुब करि अछि बता,/दण्डिकेरी माछ गंठी भिड़ु अछि, बग

[227] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 30

[228] महारणा सुरेंद्र कुमार, चर्यागीति, पृ- 162

धरि अछि छता।/एंडुअ कान रे सुना मली कढ़ि, नेछळ कान रे गुणा,/मूषा सोइ अछि रत्न पलंक रे मंजारी करे विछणा...[229] इस तरह सहस्र पंक्तियाँ ओड़िया के भक्ति साहित्य में दर्ज हैं।

हिंदी तथा ओड़िया में आगे जो गीति परंपरा चली, वह भी सरहपा आदि सिद्धों से शुरू हुई है। सरहपा तो दोहा-चौपाई के प्रस्तोता बन गए हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर जो उपमाओं का प्रयोग किया है, वह काव्यत्व में कम नहीं हैं। उनका अनुकरण आगे कवियों ने अवश्य किया है। उन्हें शास्त्र का ज्ञान था, किंतु उन्होंने लोक तत्व को बरीयता दी। राहुल जी इसकी तारीफ में लिखते हैं-

"वह चाहते तो अपने समय की शिष्ट सरणी का अनुसरण करते, उच्च समाज में एक सफल कवि के तौर पर ख्याति प्राप्त कर सकते थे। पर उन्होंने शिष्ट साहित्य की जगह लोक साहित्य का अनुसरण करना पसंद किया। ... उनकी कविताओं में शास्त्र सम्मत गुणों का अभाव नहीं है, उपमा का वह अक्सर सुंदर व्यवहार करते हैं। ... जैसे जलधर सागर से जल लेकर पृथ्वी पर फैलाता है, जैसे सागर का खारा जल जलधर के मुँह में पड़ मीठा हो जाता है..., जैसे फूल के भीतर की मधु को मधुमक्खी ही जानती है, जैसे दर्पण के मुख को अंधा नहीं समझता आदि..."[230]

हिंदी तथा ओड़िया के संत कवियों पर आज के विवेक लिए चाहे कोई विद्वान कितना भी अनपढ़ का आरोप लगा दे, इन कवियों को भी शास्त्र-ज्ञान था, जो किसी तथाकथित विद्यालय में नहीं सत्संग से प्राप्त होता था। सबसे बड़ी बात यह परंपरा से उन्हें प्राप्त होता था। इन संतों ने सरहपा आदि का अनुसरण किया, शास्त्रज्ञान होते हुए भी ये लोक तत्व को महत्व देते थे। लोक से ही काव्य विषय तथा काव्यांगों (खासकर उपमाओं आदि आलंकारों) का चयन करते थे। सरहपा कहते हैं, वैसे रहो जैसे बालक रहता है(सहज)।[231]

---

[229] दास परशुराम, ब्रह्मज्ञान गीता, नवम अध्याय, पृ- 24-25

[230] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश,* पृ- 22-23

[231] वही, पृ- 28

जॉन स्ट्रैटन हौली ने अपनी पुस्तक ‘भक्ति के तीन स्वर : मीराँ . सूर . कबीर’ में साधकों की निर्भिकता की बात कही है, जिसका अभ्युदय सिद्ध सरहपा आदि से हो चुका था। उन्होंने लिखा है-

“चतुर्वर्णी जाति व्यवस्था में निर्भीकता को योद्धा का गुण माना जाता है। लेकिन इसका स्थान जाति व्यवस्था के बाहर साधुओं के जीवन में भी है, जिन्होंने वर्णाश्रम धर्म के संबंधों को तोड़ दिया है और अपनी इच्छा से भ्रमण करते हैं। जैसा कि योद्धाओं के साथ होता है, उनकी निर्बिकता प्रायः दूसरों को भयभीत करती है।”[232]

सरहपा ने कर्मकांडों का खुलकर विरोध किया है। जाति-पांति का विरोध सरहपा ने सर बनाने वाली कन्या को संगी बनाकर, तथा मठों से क़दम निकाल कर संसार में विचरण कर के किया। पंडितों को फटकारा। सरहपा की ये सारी बातें गोरखनाथ, कबीर, पंचसखा, दादू आदि संत तथा भीमभोई आदि संत-कवियों में किसी न किसी रूप में बखूबी पाई जाती हैं। बलराम दास ने ‘लक्ष्मी पुराण’ लिखकर जातिपाँति का जो विरोध किया है, वह ओड़िया भक्ति-साहित्य में विरल है। मीरा ने लोकलाज को त्याग किया, ये छोटी बात नहीं है। सरहपा के कर्मकांड विरोधी विचार हिंदी में कबीर तथा ओड़िया में भीमभोई में सबसे अधिक देखने को मिलते हैं। ओड़िया भागवत तथा भागवत टुंगी सभी जातियों के लिए सुलभ हैं, यह भी सिद्धों समेत सरहपा की विचार परंपरा की देन है।

निष्कर्ष:-

इस तरह सिद्ध सरहपा चाहे इहाकाश से अस्त हो गए हों, किंतु साहित्याकाश में आज भी दीप्तिमंत हैं। सरहपा सच्चे राह-अन्वेषी थे। जब-जब लोक को सरहपा की जरूरत महसूस होगी, सरहपा उसको राह दिखाएँगे। इतिहासकारों को फिर से सिद्धों तथा सरहपा के विषय में सोचने-विचारने की ज़रूरत है। ‘अभी न होगा मेरा अंत...” आरोप-प्रत्यारोप से ऊपर उठकर सरहपा का पुनर्मूल्कन होना अभी शेष है। सरहपा

[232] हौली जॉन स्ट्रैटन, *भक्ति के तीन स्वर : मीरा . सूर . कबीर*, पृ- 81

के विचार अभी भी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के भक्ति साहित्य में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं। उनकी रचनाएँ अभी भी नेपाल-तिब्बत के मठों में खोजियों के इंतेजार कर रही हैं। ये सारी बातें सरहपा को विशेष पहचान प्रदान कर रही हैं। एक समय ऐसा आया भारत ने प्रत्यक्ष रूप से सरहपा को भूला ही दिया है। नेपाल तथा तिब्बत ने सरहपा तथा उनकी विरासत को संजोए रखा। राहुल जी ने तिब्बत की तारीफ की है, तथा सरहपा आदि सिद्धों की रचनाओं की प्राप्ति की आशा जताते हुए ठीक ही लिखा है-

"तिब्बत हमारी सांस्कृतिक निधियों का महान् संरक्षक रहा है। हमारे अधिकारिक विद्वानों को उनको देखने का बहुत कम अवसर मिला है और जो कुछ दूसरों के लेख और कथन के रूप में उनके सामने आया है, उससे उसके बारे में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती हैष तिब्बत में भी बहुत सी ऐसी निधियाँ वहाँ के विद्वानों की पहुँच से बहार है। उदाहरणार्थ जिन सैकड़ों ताल पोथियों को मैंने स.स्क्य, ङोर और शलु में देखा, उनका पता तिब्बत की और जगह के विद्वानों को ही नहीं, बल्कि खुद उन विहारों के विद्वानों को भी नहीं या बहुत कम था। ... अब इन अज्ञात अंधेरी कोठरियों में बंद अथवा तिब्बती हस्तलेखों के जंगल में सूई की तरह छिपी ताल पोथियों के अतिरिक्त उन पोथियों के प्रकाश में आने की संभावना है, जो कि किसी मूर्ति या स्तूप के उदर में हमेशा के लिए बंद कर दी गई। जब वह सब बाहर आ जाएँगी, तो सिद्धों की कविता के रूप में अपभ्रंश भाषा का बौद्ध-साहित्य प्रचुर मात्रा में हमारे सामने आएगा।"[233] जितनी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उतनी रचनाओं का सही मूल्यांकन होना अभी बाक़ी है। इसके अलावा भारतीय भक्ति साहित्य के प्रचुर ग्रंथों का पुनर्मूल्यांकन हो, तो सरहपा समेत सिद्धों के साथ हम सही मायने में न्याय कर पाएँगे। यह उनका शाश्वत अधिकार भी है, यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

---

[233] सांकृत्यायन राहुल, *दोहाकोश*, पृ- 79

उपसंहार

एक प्रश्न उठता है, कि कवि तो कई होते हैं या हो सकते हैं, किंतु कुछ एक ही क्यों अमर रह जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित पंक्तियों में मिल जाएगा-

"हुए मदफ़ून-ए-दरिया ज़ेर-ए-दरिया तैरने वाले/ तमांचे मौज के खाते थे जो बनकर गुहर निकले..." यानी कई लोग दरिया को पार करने की कोशिश करते हैं, दरिया में दफ़्न हो जाते हैं, लेकिन वही लोग अमर हो जाते हैं, जो संघर्षरत रहते हैं।

कवि-कलाकार सबसे अधिक संवेदनशील और संघर्षशील जीव होते हैं।उनका यह संघर्ष जितना अभ्यंतरिण है, उतना ही बाह्य। एक कवि अपने आप से लड़ता है, अपने अंतःकरण की ग्रंथियों से लड़ता है, साथ ही समाज की वर्जनाओं से भी लड़ाई करता है। कवि कई पैदा होते हैं, लेकिन वही कवि ला-फ़ानी होता है, जो समाज में रहते हुए, समाज-कल्याण के लिए अपने आप को न्योच्छावर करता है, जिससे तत्कालीन और आगत-भविष्य सबका भला होता है। उसे कई बार जड़ मान्यताओं को खंडन करते वक्त समाज के दुश्चरित्रों के कोप का सामना करना पड़ता है। क़दम-क़दम पर कई बाधाएँ आती हैं। उसे रोकने की भरसक कोशिशें भी होती हैं। कुछ कवि-कलाकार इससे टूट जाते हैं। कुछ क़लम-त्याग कर घुटने टेक देते हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी होते हैं, जो क़लम को कभी नहीं त्यागते। समाज में घटित होने वाली घटनाओं-दुर्घटनाओं को पुनर्रचित कर देते हैं। समाज कल्याण का यह मार्ग दुस्साध्य होता है। कवि-लेखक उस दुस्साध्य सफर पर चलते हुए, व्यथित जनता को राहत की राह दिखाता है।

सिद्ध सरहपा प्राचीन भारत में जन्मे महान कवियों में एक हैं। उनपर काफी खोजें हो चुकी हैं, किंतु अबतक उनका सही मूल्यांकन हो न सका है। इसके कई कारण हैं। उनमें एक तो काल की कठोरता ने उनको लगभग समाप्त सा कर दिया है, दूसरा उनको व्याख्यायित करने वाले बड़े आलोचकों ने, (जिन्हें पाठक-सामाजिक अनुकरण करते हैं) उनके साथ संपूर्णतः न्याय नहीं किया है।

सरहपा का जन्म जिस संध्याकाल में हुआ था, उस समय समाज में कई प्रकार की विसंगतियाँ फैलने लगी थीं। बौद्ध धर्म बुद्ध के देहावशेष के समान कई टुकड़ों में बंट चुका था। राजाओं और सामंतों में कुछ ऐसे भी पैदा हुए थे, जिनके लिए समाज में न्याय और धर्म का कोई मूल्य नहीं रह गया था। उभय स्थविर-बौद्ध तथा जड़ ब्राह्मण संस्कृतियाँ कट्टरता की ओर आकृष्ट होने लगी थीं। शैव शशांक जैसे नरेशों ने बौद्ध-अनुयायियों को बहुत सताया था। उत्तर पश्चिम की ओर से इस्लाम का पदार्पण होने लगा था। अरब सेना बौद्ध मठों को ध्वंसकर आगे बढ़ने लगी थी। समाज में बुद्ध के बाद उन्मूलन हुई जाति भेद तथा छुआछूत व्यवस्था, फिर से उदित होने लगी थी। सिद्ध सरहपा का युग अत्यंत ही तनावपूर्ण बनने लगा था। ऐसी घड़ी में सरहपा रूपी सूर्य का उदय हुआ। अनुश्रुतियाँ बताती हैं, कि वे ब्राह्मणकुल में जन्म लिए थे। उन्होंने नालंदा में अध्ययन-अध्यापन किया था। किंतु अधिक दिन तक कोरे सामाजिक अनुशासन ने उन्हें बांध न सका। उन्होंने सारे बंधनों को, जड़-बद्ध मान्यताओं को खंडित किया। वे सिद्ध थे, जिसे विद्वान बौद्ध की ही एक शाखा मानते हैं। तत्कालीन बौद्धों में भी कई पाखंड प्रचलित थे। बौद्ध राजाश्रय में था। बड़े-बड़े मठ बौद्धों की विलासिता के केंद्र बन गए थे। बौद्धों में भी कई कर्म-कांड और अवैज्ञानिकता प्रविष्ट हो गई थीं। सरहपा को यह अवश्य महसूस हुआ होगा कि जगत् की मुक्ति के लिए पहले अपनी मुक्ति की आवश्यकता है। अत: उन्होंने मठ को त्यागकर यायावर जीवन को अपनाया था। देश के कई स्थानों का भ्रमण किया। जन्म तथा वासस्थान के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं किंतु यह मतैक है कि उन्होंने एक जगह में ठहरकर अपने जीवन को व्यतित नहीं किया, जैसे कि स्थविर बौद्ध कर रहे थे। उन्होंने महाराष्ट्र तक का परिभ्रमण किया और उभय बौद्ध तथा ब्राह्मणों की जड़ मान्यताओं को तोड़ते हुए, उस काल में नीच समझी जाने वाली शर बनाने वाली जाति की कन्या को अपनी महामुद्रा बनाया। सहजता में ही जीवन का यथार्थ छिपा हुआ है, यह उनको दिख गया था। उतः सहज को उन्होंने अंगीकार कर लिया था। उनकी संपूर्ण कृतियाँ अभी तक अप्राप्य हैं। कई रचनाएँ कालाग्नि में दग्ध हो गईं, उनसे संबंधित कई तथ्य अब भी नेपाल तथा तिब्बत के दुर्गम अचलाओं में कहीं छिपी हुई हैं। अन्य संतों की तरह उनकी मृत्यु के बाद उनकी पंथ-परंपरा चली और उनके द्वारा कही गई केवल सांप्रदायिक रचनाएँ आगे बढ़ पाई हैं, जिनको आधुनिक इतिहासकारों ने खोज निकाला है। जो कविताएँ हस्तगत हुई हैं, उनमें कितनी कविताएँ सिद्ध सरहपा की हैं, यह कह पाना मुश्किल है। यह तो तय

है कि सिद्धों के इतिहास में सरहपा नाम से कोई महान् व्यक्ति ने जन्म लिया अवश्य है, जिस वजह से आगे चलकर 'सरहपा' संज्ञा मानो एक उपाधि बन गई है। कई अनुयायियों के द्वारा अलग-अलग समय में 'सरहपा' नाम से कई कविताएँ लेखनीबद्ध हुई हैं। अतः उनमें संदिग्ध चीजें जुड़ी होने की गुंजाइश अधिक बढ़ जाती है। शब्दों, रूपों तथा कविताओं में हेरफेर होने पर भी उन कविताओं में कुछ मूलभूत तत्व अवश्य विद्यमान हैं। जिनका अध्ययन करके हम सिद्ध सरहपा के व्यक्तित्व को आंशिक रूप से ही सही समझ सकते हैं।

जैसा कि सर्वविदित है, उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। बचपन से ही उन्हें ब्राह्मणों की ज़ड़ मान्यताएँ व्यथित की थी। उनके स्वभाव ने उन्हें इन मान्यताओं के विपरीत जाने को प्रेरित किया। विद्वान तो वे प्रकांड थे ही। नालंदा में उन्हें अध्ययन-अध्यापन करने का मौक़ा मिला था। यह काम बिल्कुल भी आसान नहीं था। नालंदा में प्रविष्ट के लिए कई कठिन परीक्षाओं को पार करना पड़ता था। उन्होंने उन तमाम परीक्षाओं में सफलता हासिल की और नालंदा में प्रध्यापकीय जीवन का प्रंरभ किया। लेकिन अधिक दिनों तक वे वहाँ रह न सके। उनके स्वभाव ने उन्हें नालंदा से उलग होने को निमंत्रण दिया। विद्वानों का मानना है कि असंग के समय से दबी हुई तंत्र-क्रियायों को उन्होंने मुक्त किया। विनयतोष भट्टाचार्य जैसे विद्वान मानते हैं कि यह तंत्र-साधना वैदिक युग से कुछ विदित कुछ गुप्त रूप से विद्यमान थी। स्वयं गौतम बुद्ध ने तंत्र-साधना को प्रश्रय दिया था। लेकिन यह मुखर नहीं थी, जिसे सिद्ध सरहपा से मुक्त किया था। हर क्रिया के अभ्युदय का अपना इतिहास होता है और हर एक क्रिया की अपनी विशेषताएँ और सीमाएँ होती हैं। हाँ, समाज के लिए तंत्र साधना की उपयोगिता एक अलग मुद्दा है।

दरअसल नालंदा में प्रवास के समय से ही देख लिया था कि असली ज्ञान किसी अनुष्ठान में बंधकर नहीं अपितु स्वयं को उन मान्यताओं और अनुष्ठानों के बंधनों से मुक्त करके मिल सकता है। उन्होंने वही किया जो तत्कालीन 'लोक' की दरकार थी। सिद्ध सरहपा पर आधारित इस लघु शोध प्रबंध का उद्देश्य यह है कि सिद्ध सरहपा की अस्मिता का पुनर्मूल्यांकन कर उनपर लगे आरोपों से उन्हें मुक्त किया जाए। आज सिद्ध सरहपा स्वयं आकर अपने जीवन के बारे में बता नहीं सकते। इसके लिए हमें उनके समय में जाना होगा। एक खोजी के सामने जो तथ्य मौजूद होते हैं, वह उन तथ्यों के सहारे 'समय-परिभ्रमण' (Time

Travel) कर सकता है। एक ईमानदार खोजी का सर्वोत्तम गुण यह है कि वह अतीत और भविष्य द्रष्टा होता है। उसका सर्व प्रमुख कर्तव्य यह है कि जितना संभव हो अपने व्यक्तिगत विचारों, मतों, पसंद-नापसंदों को किनारे रखकर शोधैय पात्र का यथार्थ मूल्यांकन करे। इसके इतर हर इन्सान की अपनी सीमा होती है। हर शोध में कई प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं, कई प्रश्नों अनसुलझे रह जाते हैं। जो आगत शोधकर्ता के लिए मार्ग प्रसस्त करते हैं। इस शोध में मुझे कई प्रश्नों के उत्तर भी मिले। कई प्रश्न अब भी अनसुलझे रह गए हैं। ऐसी बात नहीं है कि वे प्रश्न सदा के लिए अनसुलझे रहेंगे। सरहपा से संबंधित तथ्य अभी अधूरे मिल पाए हैं। कई संभावनाएँ अब भी वनी हुई हैं। क्योंकि यह लघु शोध प्रबंध है, अतः उसकी भी अपनी सीमा है। सरहपा अगाध हैं। उनको संपूर्ण नाप पाना असंभव सा है। किंतु इस लघु शोध प्रबंध में यह कोशिश की गई है कि सिद्ध सरहपा का तटस्थ मूल्यांकन हो सके।

सरहपा हिंदी, ओड़िया, बांग्ला, असमिया, मराठी आदि कई भाषाओं के भक्तिकाल में विचार, भाषा, भाव के ज़रिए मौजूद हैं। उनका अंत नहीं हुआ है, वे जीवित हैं। महान् आत्मा कभी महीं मरती। वह किसी न किसी रूप में जीवित रहती है। उनके भाव, उनके पारिभाषिक शब्द, विचार आदि ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आगे के हर युग में अपने आप को जीवित रखा है। इस लघु शोध प्रबंध में कई उदाहरणों के साथ इस बात की पुष्टि की गई है।

इस तरह सिद्ध सरहपा की नश्वर देह चाहे मिट गई हो, लेकिन उनके अमर विचार नहीं मिटे हैं। वे जीवित हैं। देह मर सकती है, विचारों को कोई नहीं मार सकता है। "जब-जब होई धर्म की हानि..." प्रत्येक काल में सरहपा अपनी रचनाओं के ज़रिए तृषित जनताओं को राह अवश्य दिखाएँगे।

किसी भी शोध प्रबंध की प्रासंगिकता उसकी समसामयिकता पर निर्भर है। आज सरहपा की किन परिस्थितियों में हमें ज़रूरत हो सकती हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह समूचा शोध प्रबंध देगा। आज अगर गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, तो हमें सरहपा की आवश्यकता है। इस दिखावे के ज़माने में हमें सहज योगी सरहपा की सबसे अधिक दरकार है। पांडित्य के दिखावे से नहीं, बल्कि जीवनानुभव से प्राप्त ज्ञान से ही जीवन जीया जा सकता है, और मानवता को मुक्ति मिल सकती है, यह सरहपा ने सिखाया है। एक साहित्यकार को अपनी प्रंतीय बोलियों और भाषाओं को न सिर्फ सम्मान करना चाहिए, बल्कि उनके

उपयोग तथा प्रचार में भी योगदान देना चाहिए, सरहपा की काव्य-भाषा से हम ये सीख सकते हैं, उन्हें संस्कृत आती थी, किंतु उन्होंने देशभाषा को वरीयता दी। विषय-वास्ना से दूर रहकर जीवन को बिताने के मंत्र सरहपा ने ही सिखाया है। अतः सिद्ध सरहपा की देहास्त होने के बावजूद वे हमारे साथ मौदूद हैं और वे तब भी आधुनिक थे और आज भी आधुनिक हैं। आने वाले भविष्य में सिद्ध सरहपा का मूल्यांकन और वैज्ञानिक हों यही कामना है। हर कामना में विनाश निहित नहीं होता, कुछ कामनाएँ समाज के लिए लिए कल्याणकारी साबित होती हैं। सिद्ध सरहपा के संपूर्ण आविष्कार की कामना निश्चित ही समाज के लिए कल्याणकारी साबित होगी।

शोध के दौरान आईं कठिनाइयाँ:-

इस शोध के दौरान काफी कठिनाइयाँ आई हैं। निम्नलिखित बिंदुओं में उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

1. कोरोना महामारी ने इस लघु शोध प्रबंध को काफी प्रभावित किया है। विश्वविद्यालय तथा पुस्तकालय आदि संस्थाएँ अनिर्दिष्ट काल के लिए बंद रहीं। जिस वजह से समय पर शोध सामग्रियाँ नहीं मिल पाईं। अनिश्चितता के कराल-बादल तले शोध लेखन कार्य का प्रंरभ दुआ।
2. सिद्ध सरहपा 1000 ई. के आसपास के कवि हैं। अतः उनसे जुड़े प्रथमिक साक्ष्य लगभग विस्मृत हो गए हैं। कई अभी भी मिल सकते हैं। कई नष्ट हो चुके हैं। अतः यह स्थिति एक भारी समस्या बनकर सामने आई। नाना मुनियों के नाना मत के कारण कई तथ्य आपस में इतने उलझे हुए थे, कि उनको अलग कर उनका अध्ययन, परीक्षण करना लगभग कठिन ही था। इसमें पुस्तकों के न मिल पाना एक अलग ही मुद्दा है।
3. भाषा की समस्या ने इस शोध को और अधिक दुरूह कर दिया। एक तो सरहपा की भाषा उसके बाद सरहपा को दर्ज करने वाले विद्वानों की भाषा। इसमें मेरी अपनी मातृभाषा ओड़िया ने मुझे काफी सहायता की है। ओड़िया अपभ्रंश के बहुत निकट ठहरती है। फिर सरहपा को दर्ज करने

वाले इतिहासकारों की भाषा ने शोध की गति को धीमा कर दिया। ‘बौद्धगान ओ दोहा’ बांग्ला में मिली, एन इंट्रॉडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज़म और मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ जैसी पुस्तकें अंग्रेज़ी में मिलीं। उन्हें समझकर उनसे तथ्य लेकर तथा उनका विश्लेषण करके शोध में स्थान देना आसान नहीं था।

4. मैंने सरहपा की कविताओं से इतर उनकी ऐतिहासिकता पर अधिक दृष्टि दी है। सिद्ध सरहपा की एक जैसी रचनाओं का हिंदी और ओड़िया के विद्वानों ने अपनी-अपनी भाषाओं में व्याख्यायित किया है। उनका उध्ययन करके इस लघु शोध प्रबंध की लघु काया में जगह देने का प्रयास किया है। इस कारण उनकी कविताओं को छोड़ देना पड़ा है।

5. सरहपा से संबंधित प्रत्नतात्विक साक्ष्यों को पाना बहुत मुश्किल था। राहुल जी आदि को ल्हासा जाकर सरहपा की कविताओं को पाना जितना कठिन था, उससे कम कठिनाई मेरी खोज में नहीं आई। आज परिस्थिति बिल्कुल बदल गई है। आज दस्तावेजों को पाना कठिन है, खासकर एक साधारण शोधार्थी के लिए यह अत्यंत मुश्किल है। ऊपर से कोरोना ने इसपर और अधिक दबाव बढ़ा दिया। कई मामलों में इंटरनेट की सहायता लेनी पड़ी। सरहपा से संबंधित प्राथमिक साक्ष्य की तस्वीर भुवनेश्वर संग्रहालय से लेने के लिए मुझे काफी जद्दोजहद करनी पड़ी। सौभाग्य से मुझे वह तस्वीर मिली, जिसे किसी भी इतिहासकार ने स्पष्टता से अपनी पुस्तक में स्थान नहीं दिया है।

आधार ग्रंथ

क. राहुल सांकृत्यायन- *दोहाकोश*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1957

ख. हर प्रसाद शास्त्री- *बौद्धगान ओ दोहा*, बंगीय साहित्य परिषद्, कलिकता, द्वितीय मूद्रण, 1958

ग. Benoytosh Bhattacharya- *An Introduction to Buddhist Esoterism,* Humphrey Milford, Oxford University Press, 1932

घ. Bhupendra Nath Dutta- *Mystic Tales of Lama Taranath,* Ramkrishna Vedant Math, reprint- 1957

ङ. खगेश्वर महापात्र- *चर्यागीतिका,* फ्रैंड्स पब्लिशर्स, कटक, दशम संस्करण, 2017

संदर्भ ग्रंथ

1. ई. एच. कार- *इतिहास क्या है*, ट्रीनिटी प्रेस, 2016
2. धर्मवीर भारती- *सिद्ध साहित्य*, किताब महल प्रयाग, 1955
3. रामकुमार वर्मा- *हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*, रामनारायण लाल पुस्तक विक्रेता, इलाहाबाद, 1958
4. रामचंद्र शुक्ल- *हिंदी साहित्य का इतिहास*, मलिक एंड कम्पनी, संस्करण-2015
5. सं. नगेंद्र और हरदयाल- *हिंदी साहित्य का इतिहास*, शिवानी आर्ट प्रेस, दिल्ली, 2019

6. राहुल सांकृत्यायन- *हिंदी काव्यधारा*, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1945

7. रणजीत शाह- *सहज सिद्ध साधना विमर्श*, यश पब्लीशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2012

8. शिवपूजन सहाय- *हिंदी साहित्य और बिहार*, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1960

9. बच्चन सिंह- *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास*, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि., 2016

10. *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली*- 3 एवं 5, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1981

11. मैनेजर पाण्डेय- *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला, 2014

12. हजारी प्रसाद द्विवेदी- *अशोक के फूल,* लोकभारती प्रकाशन, उन्नीसवाँ संस्करण, 2008

13. नलिन विलोचन शर्मा- *साहित्य का इतिहास दर्शन*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1960

14. नागेंद्रनाथ उपाध्याय- *भारतीय साहित्य के निर्माता*: गोरखनाथ, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण- 2019

15. परशुराम चतुर्वेदी- *कबीर साहित्य की परख*- भारती भंडार प्रयाग, 1954

16. श्यामसुंदर दास- *कबीर ग्रंथावली*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011

17. करुणाकर कर- *आश्चर्यचर्यचया* ओड़िया साहित्य अकादमी, भुवनेश्वर,1969

18. सुरेंद्र महांति- *ओड़िया साहित्य र आदि पर्व*, कटक स्टूडेंट स्टोर, 2018

19. सुरेंद्र महारणा- *चर्यागीति,* जगन्नाथ रथ पब्लिशर्स, 2020

20. बंशीधर महांति- *ओड़िया साहित्य र इतिहास,* फ्रैंड्स पब्लिशर्स, कटक, 2019

21. मायाधर मानसिंह- *ओड़िया साहित्य र इतिहास,*ग्रंथ मंदिर, कटक,1967

22. जॉन स्ट्रैटन हौली- *भक्ति के तीन स्वर : मीरा सूर कबीर*,

अनुवादक- अशोक कुमार, राजकमल पेपरबैक्स,

दूसरा संस्करण, 2020

23.Naveen Kumar Sahu- *Buddhism in Orissa*,

Utkal University, Bhubaneswar, 1958

24.चंदबरदाई- *संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो*,

साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, सं-1952

पत्र-पत्रिकाएँ:-

1. *वागर्थ*- भारतीय भाषा परिषद, अगस्त- 2006
2. *सामाजिकी*- राजकमल प्रकाशन,अक्टूबर- दिसंबर-2021
3. *Kuruma, A lesser known Buddhist site of Orissa*- Santosh Kumar Rath, Orissa Review, April-2005

शब्दकोश-

1. गोपालचंद्र प्रहराज- *पूर्णचंद्र ओड़िया भाषाकोष*- द उत्कल साहित्य प्रेस, कटक,1931

इंटरनेट की लिंक-

1. https://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=2223&pageno=1
2. वै ऑफ सीइंग-जॉन बर्ज़र- https://www.ways-of-seeing.com/
3. शरत चंद्र दास- विकिपीडिया से- https://en.wikipedia.org/wiki/Sarat_Chandra_Das
4. amp.bharatdiscover.org- shorturl.at/fnqEM

परिशिष्ट

शोध के दौरान प्राप्त साक्ष्य:-

भुवनेश्वर राज्य संग्रहालय से प्राप्त मूर्तियों की तस्वीरें नीचे दी जा रही हैं-

बराही, धर्मशाला, जाजपुर, 8 वीं शती

मूर्ति के प्राप्ति स्थान का विवरण

अवलोकितेश्वर मूर्ति में उत्कीर्णित अभिलेख

अवलोकितेश्वर मूर्ति और राहुलरुचि (सरहपाद) से संबंधित अभिलेख

साहित्य और समाज का दस्तावेज़ीकरण

अपनी माटी

UGC CARE Listed Journal

41

April-June 2022

सम्पादक-द्वय माणिक व जितेन्द्र यादव

चित्रांकन सत्या सार्थी (पटना)

www.apnimaati.com

शोध आलेख :- सिद्ध सरहपा का समय तथा उनकी ऐतिहासिकता : मिथक से इतिहास तक / करमचंद साहू

Gunwant गुरुवार, जून 30, 2022 0

सिद्ध सरहपा का समय तथा उनकी ऐतिहासिकता : मिथक से इतिहास तक
(क्या सिद्ध सरहपा के नाम से एकाधिक व्यक्ति हुए हैं?)

- करमचंद साहू

शोध सार : 'सरहपा' जितने विवादित हैं, उतने ही चर्चित भी हैं। साहित्येतिहास के अंतर्गत हिंदी, ओड़िया तथा बांग्ला आदि में और भौगोलिक दृष्टि से भारत, तिब्बत तथा नेपाल में उनसे चर्चित व्यक्ति कोई और नहीं है। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार वे अग्र सिद्ध हैं। अग्र सिद्ध होने के कारण उनकी एक समृद्ध पंथ-परंपरा चली। किंतु सरहपा के नाम से एकाधिक व्यक्तित्व की परिकल्पना कार्देयर आदि विद्वानों ने की है। इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। एकाधिक अनुश्रुतियों तथा व्यक्तित्व के कारण सरहपा के समय के बारे में पता लगा पाना मुश्किल हो जाता है। किसी ने उनको धर्मपाल, तो किसी ने उनको रत्नपाल के समय विद्यमान रहने की परिकल्पना की है। ओड़िशा में भुवनेश्वर म्यूजियम में स्थित एक मूर्ति के आधार पर उड़िया के विद्वान् उनका समय शुभाकर देव राजा के विद्यमान के समय, 8 वीं से 9 वीं शती के बीच निर्धारित करते हैं।1 विनयतोष भट्टाचार्य जी उनको 7 वीं शती का मानते हैं, तो राहुल जी 8 वीं शती का और धर्मवीर भारती जी उनका समय 9 वीं शती मानते हैं। इस तथ्य के साथ अगर फिर हम शबरिपा को मिला लें तो यह और बोझिल हो जाएगा, क्योंकि कुछ अनुश्रुतियों में शबरपा को भी सरहपा (छोटे सरहपा) के नाम से पुकारा जाता है। मैं आगे इतिहासकारों के विवरणों तथा सरहपा की रचनाओं से साक्ष्य ढूँढकर उनके समय निर्धारण करने तथा उनकी ऐतिहासिकता की खोज करने की कोशिश करूँगा।

बीज शब्द : प्रत्नतात्विक साक्ष्य, सिंहावलोकन, बौद्ध, विसंगति, अभिजात वर्ग, तंत्र, भागवत नरेश, विजयिनी अरब सेना, इस्लाम की काशी, क्रौंच-मिथुन, निष्कासन, स्थूल शरीर, कीर्तिशरीर, प्रज्ञा, करुणा, रहस्य, तिब्बती अनुश्रुति, वंश वृक्ष आदि।

मूल आलेख : किसी भी महान् कवि के समय निर्धारण करते वक्त शोधकर्ताओं को, सबसे पहले उनकी रचनाओं से गुजरना पड़ता है। फिर अभिलेखों, प्रत्नतात्विक साक्ष्यों आदि की ओर रुख करना पड़ता है। फिर अगर इनसे काम न चले, तो अनुश्रुतियों, कहानियों आदि की ओर भी ध्यान देना पड़ता है। सरहपा के मामले में यह कार्य बहुत कठिन है, कारण कई हैं। जिनमें प्रमुख उनकी संपूर्ण रचनाओं का न मिल पाना तथा उनके नाम से वैज्ञानिक तथ्य न मिल पाना है। राहुल जी उनकी खोई हुई रचनाओं की प्राप्ति की आशा रखते हैं। अभी तक सरहपा के बारे में जो कुछ लिखा गया है, तथा सरहपा के नाम से उपलब्ध रचनाओं का सिंहावलोकन कर मैं, कुछ निर्णयों का उल्लेख करने की कोशिश करूँगा।

अगर हम सभी विद्वानों के द्वारा दिए गए समय को एक धागे में पिरो दें तो, मोटा-मोटी इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि उनका जन्म 7वीं से 10 वीं शती के बीच में कभी हुआ होगा। 7वीं से 10वीं के लंबे समय के बीच भारत की परिस्थिति कैसी थी, इसका जानना बेहद जरूरी है। क्योंकि एक सच्चा साहित्यकार या कवि अपने समय को अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से पुनर्रचित करता है। अतः हमें एक शोधकर्ता के रूप में सरहपा की रचनाओं तथा उनसे संबंधित अन्य विद्वानों के द्वारा लिखित रचनाओं समेत तत्कालीन इतिहास, समाज, राज्य व्यवस्था आदि का भी अध्ययन करना पड़ेगा। इसके लिए अगर हमें शुद्ध इतिहास, समाजशास्त्र आदि का सहारा लेना पड़े तो कोई अशुद्धि नहीं होगी। आगे यही कोशिश होगी।

कुंभनदास ने कहा है, 'संतन को कहाँ सीकरी सों काम', तुलसीदास ने लिखा है, 'खेती न किसान को भिखारी को न भिख बलि', 'माँगि कै खैबो, मसीत को सइबो', सिख गुरुओं ने राज्य सत्ता के खिलाफ़ विद्रोह किया है। भारतेंदु आदि ने अंग्रेज़ी राज को फटकारते हुए कितनी रचनाएँ की हैं। निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल आदि कितने ही कवि अपने समय की विसंगतियों को बेबाकी से अपनी कविताओं में उतारा है। सरहपा के समय भी ऐसे कवि संस्कृत में हुए हैं, जिन्होंने समाज में फैली समस्याओं को अपनी रचनाओं में रेखांकित किया है। सरहपा के समय के आसपास भी ऐसे कवि संस्कृत में हुए हैं, जिन्होंने समाज में फैली समस्याओं को शब्द प्रदान किया है- "दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा/क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्यान चेदेहिनी/ या च्चा भङ्ग भयेन गददगलत्-त्रुट्यद्विलीनाक्षरं/ को देहीति वेदत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान्।। ये भर्तृहरि की पंक्तियाँ हैं। कोसम्बी साहेब ने इनका समय तीसरी सदी के आसपास का माना है। भर्तृहरि अभिजात वर्ग के कवि थे, किंतु तथापि उन्होंने तत्कालीन समाज की जो विसंगतियाँ व्यक्त की हैं, उन्हें देखकर आश्चर्य होता है।"2 एक महान् लेखक हम किसे कहेंगे? कोसाम्बी को उद्धृत करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है-

"एक महान् लेखक अपनी रचना में स्वयं को सीधे-सीधे प्रकट नहीं करता। वह अपने अनुभवों के साथ-साथ दूसरे के अनुभवों को भी व्यक्त करता है। लेकिन इन अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में वह जिन बिंबों और मुहावरों का प्रयोग करता है, उनमें उसके वर्ग और सामाजिक संरचना की छाप मौजूद रहती है।"3 सरहपा में तत्कालीन सामाजिक संरचना की छाप तो मौजूद है किंतु आर्थिक - राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उनकी चुप्पी उलझनों में डाल देती है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विसंगतियों के यथार्थ चित्रण की आशा करते हुए, आदिकवि सरहपा से अधिक उम्मीद रखी ही जा सकती है।

सरहपा आदि सिद्ध हैं, साथ ही अवश्य ही एक महान् लेखक भी हैं। सरहपा की शृखंला में आए सिद्ध विरूपा की पंक्तियों में चमत्कारों द्वारा दो बार म्लेच्छ के विरोध का उल्लेख है।4 अब यह प्रश्न उठना लाजमी है कि सरहपा की रचनाएँ इन सब के मामले में क्यों चुप हैं?

7 वीं से 10 वीं शताब्दी के बीच का सामाजिक परिदृश्य कैसा था? राज्य व्यवस्था कैसी थी? धार्मिक परिस्थिति का स्वरूप कैसा था? क्या इन सबका वर्णन सरहपा ने अपनी रचनाओं में किया है? अगर हाँ, तो सरहपा इस समय अवश्य पैदा हुए होंगे। अगर नहीं, तो सरहपा का इस समय पैदा होना संदिग्ध है। यही प्रश्न मुझे आंदोलित कर रहे हैं कि इतने बड़े तथा प्रखर कवि, जो क्रांतिकारी माने जाते हैं, जिन्होंने स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी, तत्कालीन ब्राह्मण व्यवस्था को फटकारा है, जकड़ी बौद्ध व्यवस्था को नवीन राह पह चलने की नसीहतें दी हैं, ऊँच-नीच के भेदभाव को त्यागकर एक शर बनाने वाली महिला को अपनी संगी बनाया है, गुह्य तंत्र को सर्व सुलभ किया है, उनकी कविताओं में वैष्णव तथा शैव राजाओं के अत्याचार, अरब सेना के द्वारा बौद्धों का नर संहार, नालंदा में ही फैले दुराचार आदि पर चुप्पी, सरहपा के उस समय वर्तमान होने को, संदेह के घेरे पर ले आता है। क्या जान बूझकर सरहपा इन विषयों पर चुप हैं? क्या उनको इन गंभीर विषयों पर बात करने की जरूरत महसूस नहीं हुई होगी? क्या राजद्रोह के भय से वे चुप हैं, क्या सरहपा तक सुदूर उत्तर-पश्चिम में क्या घट रहा था, उसकी ख़बर पहुँच नहीं पाई होगी? क्या इनके विद्यमान होने के समय ये सारी बातें समाज में नहीं थीं? क्या उन्होंने इसपर बात की है, किंतु आज वे रचनाएँ अप्राप्य हैं? ऐसे कई प्रश्न मुझे आंदोलित कर रहे हैं।

राहुल जी ने 'दोहाकोश' में सरहपा के समय की विभिन्न परिस्थितियों को रेखांकित किया है। धर्मवीर भारती जी ने भी व्यापकता में इस पर बात की है। किंतु किसी ने भी इस बात की चर्चा नहीं की है कि सरहपा ने इन सबके खिलाफ़ आवाज़ क्यों नहीं उठाई है! बकौल धर्मवीर भारती-

"इस बीच में राजाश्रय तथा राजधर्म ने सिद्धों की परंपरा तथा बौद्ध तंत्रों के उद्भव प्रचार तथा ह्रास को विशेषतया प्रभावित किया है…"5

इतिहासकार बताते हैं कि सिद्धों को राजाश्रय प्राप्त था। कुछ लोकप्रिय सिद्ध तो स्वयं राजा थे। कुछ विक्रमशीला तथा नालंदा जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों से संबंध रखते थे। सबकुछ सही चल रहा था। किंतु राज्यसत्ता के परिवर्तन के साथ बहुत कुछ में परिवर्तन आता है। उस समय जिस राजा का झुकाव जिस धर्म की ओर अधिक था, वह धर्म उतना ही समृद्ध था। राजा अगर जैन हो तो, जैन धर्म की उत्तरोतर उन्नति होती थी। राजा बौद्ध हो तो बौद्धों का तथा शिव या वैष्णव हो तो शिव वा वैष्णव-धर्म को समाज में राजाश्रय प्राप्त होता था। सिद्धों के समय बंगाल में पाल वंश, ओड़िशा में भौमकर वंश का राज था। ये दोनों सिद्धों के लिए उदार थे। किंतु जल्द ही बौद्ध-सिद्धों के आकाश में शंशांक रूपी कलंक मंडराने वाला था। धर्मवीर भारती ने लिखा है-

"सिद्धों की समकालीन राजनीतिक परिस्थिति को भलीभांति समझने के लिए हर्ष और शशांक की प्रतिद्वंद्विता का थोड़ा सा इतिहास जान लेना अत्यंत आवश्यक है। इसलिए नहीं कि वह एक पूर्वीय तथा एक मध्यदेशीय सम्राट की प्रतिद्वंद्विता थी, वरन् इसलिए कि उस प्रतिद्वंद्विता के मूल में शैव और बौद्ध प्रतिद्वंद्विता भी थी।"6

बौद्ध धर्म जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था, तब पूर्वी भारत में नवीन धार्मिक शक्तिओं का उदय हो रहा था। जिस शैव ने आगे चलकर सिद्धों में अपने आप को पराभूत किया, उसी में एक शशांक नामक राजा हुआ, जिसने सिद्धों को बहुत सताया। धर्मवीर भारती जी आगे लिखते हैं-

"शशांक के प्रारंभिक जीवन के विषय में अधिक नहीं ज्ञात है। … 606 ई. के पूर्व वह सम्राट पद पर आसीन हो चुका था और बंगाल, उड़ीसा तथा मगध उसकी अधीनता में थे।… शशांक बौद्धों का कट्टर शत्रु था। बुद्ध के पद चिह्नों वाला एक पत्थर गंगा में फिंकवा दिया था, बोधिवृक्ष की शाखाएँ कटवा डाली थीं और बुद्ध प्रतिमा को नष्ट कर शिव प्रतिमाओं की स्थापना करनी चाही थी।"7

शशांक एक तरह से बौद्धों के लिए सिर-दर्द बन गया था। माना जाता रहा है कि बौद्धों पर हानि वैष्णव तथा ब्राह्मण धर्म को मानने वालों ने अधिक पहुँचाई है। किंतु शशांक इस बात को ग़लत साबित करता है। उसने जितनी क्षति बौद्धों को पहुँचाई है, किसी और ने नहीं। इस तरह पूर्वी बंगाल का वर्मन भी बौद्ध विरोधी था। ऐसे और भी राजा उस समय तक अवश्य रहे होंगे। ऐसे में यह आश्चर्य लगता है कि किसी एक सिद्ध ने भी इन राजाओं के अत्याचार के खिलाफ़ क्यों आवाज़ नहीं उठाई है? डॉ. राम कुमार वर्मा ने भी बहुत रोचक तथ्य दिया है-

"यों तो बौद्ध धर्म को समय-समय पर संघर्षों का सामना करना पड़ा- गुप्त वंश के परम भागवत नरेशों द्वारा भी बौद्ध-धर्म की गति में बाधा पड़ी, लेकिन उसे सबसे बड़ा आघात ईसा की आठवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा में सहन करना पड़ा।"8

इससे यह पता चलता है कि सिद्धों को सिर्फ राजाओं से नहीं अपितु वैदिक धर्म प्रचारकों से भी समस्या होने लगी थी। अगर राहुल जी को मानें तो सरहपा शंकर-कुमारिल के समय विद्यमान थे।

शशांक तथा वर्मन के बौद्धों पर अत्याचार एवं वैदिक धर्म प्रचारकों के द्वारा बौद्धों के विरोध की बात को जानने के बाद हम पाल वंश के संबंध में कुछ जान लेते हैं। कहा जाता है कि सिद्धों पर पाल वंश का संरक्षण प्राप्त था। बंगाल में गोपाल का राज्याभिषेक करीब 750 ई. को हुआ।9 770 ई. में धर्मपाल(गोपाल का पुत्र) गद्दी पर बैठा। धर्मपाल का शासनकाल धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। तारानाथ का कहना है, कि धर्मपाल ने अपनी तथा अपनी पत्नी के वज़न के बराबर सोना बौद्धों को दान किया था, उनके लिए एक नए बौद्ध-विहार विक्रमशीला की स्थापना की थी। पुराने विहार सोमपुरी का पुनरुद्धार किया था। अन्य कितने ही बौद्धहितों का उल्लेख मिलता है।10

धर्मपाल के बाद देवपाल 810 ई. में शासन भार संभालता है। इसके बाद पाल वंश की प्रतिष्ठा का ह्रास प्रारंभ हुआ। जब कोई राजा इतना उदार हो, तब यह निश्चित है कि उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष जिक्र, उसकी उदारता को प्राप्त करने वाले सिद्धों में से कोई न कोई अवश्य करता। व्यापकता से नहीं न सही, गौण रूप से तो अवश्य करता। न ही सरहपा न किसी और सिद्धों की पंक्तियों में इन राजाओं का जिक्र मिलता है, न ही प्रशस्ति सुनने को मिलती है।

अब हम थोड़ा तत्कालीन विदेशी आक्रमण की बात पर भी गौर करें। सरहपा के समय के आसपास से ही एक बहुत बड़ी हलचल भारत के उत्तर-पश्चिम की ओर शुरू हो गयी थी। अरब में नई सैन्य-शक्ति का अभ्युदय हो गया। उसने एक-एक करके कई सांस्कृतिक रूप से समृद्ध देशों को न सिर्फ हराया बल्कि उनकी सांस्कृतिक धरोहर को मिट्टी में मिला दिया। राहुल जी इसका वर्णन करते हैं-

"इनके मैदान में आने से पहले ही भारत से बाहर अपने प्रभाव को फैलाती एक विश्वशक्ति पश्चिम की ओर से भारत की ओर बढ़ती चली आ रही थी। यह थी अरब या इस्लाम की शक्ति। अभी प्रतापी हर्ष कान्यकुब्ज में विराजमान ही थे, जबकि 639 ई. में अरब-सेना ने महाबंद के युद्ध क्षेत्र में ईरान के प्रतापी सासानी राजवंश का उच्छेद किया। अगले तेरह वर्षों में विजयिनी अरब सेना ख्वारेज्म और तुखारिस्तान [मध्य आमू(वक्षु) उपत्यका]तक पहुँच गई। अरब केवल अपने शासन की ही स्थापना

के लिए दिग्विजय नहीं कर रहे थे, बल्कि साथ ही वह विजित देशों की संस्कृति और प्राचीन विश्वासों को ध्वस्त कर एक नये रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे। इस लिए उनके प्रतिद्वंद्वि भी आसानी से हथियार डालने के लिए तैयार नहीं थे।"11

अरब शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी। यह पूरे विश्व इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव था, जिसने न सिर्फ वर्तमान को अपितु भविष्यत् को भी प्रभावित किया था। विश्व धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन में अरब सेना के अभ्युदय का बहुत बड़ा हाथ है। राहुल जी ने अरब सेना के द्वारा नए देशों के अधिग्रहण तथा उनका बौद्धों पर पड़े प्रभाव पर विशेष दृष्टि डाली है-

"तुखारिस्थान मध्य एशिया में बौद्धों का गढ़ था, जहाँ दत्तामित्र- आधुनिक तेर्मिज और बलख(वाहलीक) अपने महान् बौद्ध-विहारों तथा विद्वानों के लिए मशहूर थे।... तुखारिस्तान की भूमिका में इस्लाम और बौद्धधर्म के लिए जो खूनी संघर्ष हो रहे थे, उससे भारतीय शासक चाहे अप्रभावित रहे, पर बौद्ध-जगत् के महान् शिक्षा केंद्र नालंदा और दूसरे विहारों में तो सैकड़ों भुक्तभोगी मध्य एशियाई भिक्षु अध्ययन करते थे, इसलिए वह सारी घटनाओं से पूरी तौर से अवगत थे। यद्यपि वहाँ भारत से कोई सहायता नहीं पहुँच सकती थी, पर भारतीय बौद्धों की सहानुभूति तुखारिस्तानियों के साथ थी।"12

यद्यपि आज की तरह संचार माध्यम तब उपलब्ध नहीं थे, किंतु ख़बरें तो एक जगह से दूसरी जगह, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अवश्य ही पहुँचती थीं। उत्तर-पश्चिम में जो भी हलचलें हो रही थीं, उनकी हवा पूरब की ओर अवश्य बहती होगी। अगर हम राहुल जी को ही मान लें कि सरहपा का जन्म 769 ई. के आसपास हुआ था, तो ऊपर वर्णित घटनाएँ, हाल ही में, उनके जन्म से पहले घट चुकी थीं। किंतु सिर्फ यही कुछ घटनाएँ नहीं थीं, जो कुछ काल तक चलकर समाप्त हो गईं। ये तो शुरुआत थी। अरब सेना लगातार पश्चिम से पूरब की तरफ बढ़ रही थी और रास्ते में आने वाली हर एक चीज़ को नष्ट करती जा रही थी। इस तरहः

"आठवीं सदी के साथ इस्लाम की विजयिनी ध्वजा सिर और सिंधु महानदियों के किनारे फहराने लगी। आज से 1245 वर्ष पहिले 711 ई. में उमैया खलीफ़ा वलीद अब्दुल्मलिक पुत्र के सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने आपसी फूट से लाभ उठाकर सिंध को अरब साम्राज्य में मिला लिया और सिंधु हमेशा के लिए इस्लाम का विजित देश हो गया। ... 709 ई. में बुखारा बौद्ध विहार के कारण पड़े इस नामवाले महानगर- को अंतिम संघर्ष के बाद आत्मसमर्पण करना पड़ा और वह आगे चलकर बौद्ध की जगह इस्लाम की काशी बना। 714 ई. में पूर्वी तुर्किस्तान में भी इस्लाम की विजयी-वैजयंती पहुँच गई, जब कि काशगर और खुतन ने घुटने टेक दिए और सैकड़ों वर्षों से बौद्ध धर्म प्रधान इस देश के हज़ारों संघारामों को लूटकर नष्ट कर दिया गया, भारी संख्या में भिक्षु तलवार के घाट उतार दिए गए। यह सारी घटनाएँ भारत के बौद्ध आचार्यों के लिए अपने सामने घटित सी मालूम होती थीं।"13

सरहपा का अगर यही समय है तो यह बौद्धों के लिए सबसे ख़तरनाक दौर अवश्य रहा है। बाहर इस्लाम का आक्रमण और अंदर शैव तथा ब्राह्मणों का अत्याचार बौद्धों के लिए दुहरा दर्द था। ऐसे वातावरण से और ऐसी परिस्थिति में सरहपा का जन्म होता है। सरहपा की एक भी पंक्ति में इन अत्याचारों का विरोध तो क्या जिक्र तक न होना आश्चर्य में डाल देता है। कारण क्या हो सकता है? यद्यपि राहुल जी ने इसके कारण के बारे में 'दोहाकोश' में कुछ नहीं कहा है, किंतु 'हिंदी काव्यधारा' में इसपर चर्चा अवश्य की है। उन्होंने कवि की चुप्पी को उनकी मजबूरी बताया है। वे लिखते हैं-

"जिस परिस्थिति के कारण कवियों को यह मौन धारण करना पड़ा, उस परिस्थिति पर भी आपको ध्यान देना होगा। यदि कमाऊ जनता की सारी यातनाओं के असली कारण को वह चाहे न भी बतलाते और सिर्फ लोगों की इन यातनाओं का नग्न चित्र खींच देते, तो उससे रेशम और रतन से ढँका अमीरों के भोगमय जीवन नग्न हो उठता, दोनों की तुलना होने लगती और फिर जनता के कितने ही लोग वैसे समाज से क्षुब्ध हो उठते, जिसका परिणाम अवश्य अमीरों के लिए अच्छा नहीं होता। इस लिए आपको समझना होगा कि क्रौंच-मिथुन में से एक के वध के लिए कवि का आँसू बहाना जितना आसान था, उतना उस काल के बहुसंख्यक समाज की विपदाओं का वर्णन करना आसान नहीं था। यदि कोई आदमी तत्कालीन भोगी समाज के विरुद्ध लिखने के लिए अपनी कवि प्रतिभा का कुछ भी दुरुपयोग करता, तो वह केवल पुरोहितों के धर्म-दंड का ही भागी नहीं होता, बल्कि उसके सरपर पड़ता क्रूर राज-दंड- छिपकर हत्या, भयंकर शारीरिक यातना, सीधे शूली, देश और समाज से निष्कासन और अपमान। इन दंडों को सामने रखकर जब आप इन कवियों की चुप्पी को देखेंगे, तो मालूम होगा कि उनके वैसे करने के लिए प्रबल कारण मौजूद थे।यही नहीं, कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा की जो करामात दिखलाई है, उसका बचा-खुचा अंश भी शायद राजा-पुरोहित-सेठ की कोपाग्नि से न बच पाता। कवि अपने स्थूल शरीर और कीर्तिशरीर दोनों ही से नष्ट होने का भय सोच यदि मौन रहा, तो उसके विरुद्ध किसी कठोर फ़ैसले के देने का हमें अधिकार नहीं हैं।"14

राहुल जी की उपर्युक्त उक्ति क्या सरहपा के लिए भी लागू होती है? क्या सिद्ध सरहपा को राजदंड आदि का भय था? आज सरहपा की केवल सांप्रदायिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनमें यदाकदा उन्होंने समाज के उच्च तबके में से ब्राह्मणों के खिलाफ आवाज उठाई है। राज अत्याचार के खिलाफ वे चुप नज़र आते हैं। क्या सरहपा ने इनके खिलाफ आवाज उठाई होगी, जिसके कारण उनको उच्च वर्ग के कोप का सामना करना पड़ा होगा? क्या सरहपा आदि कवियों के बेबाकीपन के कारण उनकी समाजिक रचानाएँ ज़ब्त कर दी गईं या जला दी गईं होंगी, या फिर राहुल जी जैसे कह रहे हैं, सरहपा ने जान बूझ कर ऐसा किया होगा? दरअसल फिर से एक बात यहाँ दोहराना आवश्यक है कि सरहपा के नाम से जितनी भी रचनाएँ आज उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकांश संदिग्ध हैं, प्रक्षिप्त हैं तथा उनके अनुयायियों द्वारा सरहपा के तिरोधान के पश्चात् रची गई हैं। राहुल जी 800 क़रीब पदों का अब भी नेपाल तथा तिब्बत में होने की शंका जताते हैं। यह संख्या और भी हो सकती है। अतः हो सकता है सरहपा ने इनके खिलाफ आवाज उठाई हों!यह भी संभव है कि उनकी रचनाएँ नालंदा में संगृहीत हों, जो आगे पुस्तकालय के दाह में जल गईं हों। नालंदा उस ज़माने के विश्व के सबसे चर्चित विश्वविद्यालयों में एक था। क्योंकि सरहपा ने नालंदा में अध्यापन किया है, अतः यह संदेह किया ही जा सकता है कि उनकी रचनाएँ या उनका जीवन-वृत नालंदा में अवश्य संगृहीत होंगे, जो या तो जल गए होंगे या उनके अनुयायियों द्वारा तिब्बत चले गए होंगे और फिर कहीं दबे पड़े होंगे।

अब विदेशी आक्रमण के खिलाफ सरहपा की चुप्पी की बात आती है। सरहपा के विद्यमान रहने के समय में भी विदेशी ताक़तों का भारतीय बौद्धों पर आक्रमण हो रहा होगा। सरहपा इसके बारे में भी क्यों चुप हैं? एक बौद्ध दूसरे बौद्ध के ख़ून गिरते वक्त चुप कैसे रह सकता है? खास कर सरहपा जैसे बेबाक कवि! आगे विरुपा ने जैसे म्लेच्छ आक्रमण का जिक्र किया है, सरहपा भी वैसे कुछ न कुछ कह ही सकते थे। किसी न किसी रूप में अत्याचार, युद्ध आदि चीज़ें उनकी रचनाओं में आ सकती थीं। किंतु इस पर भी वे चुप हैं। क्या सरहपा बौद्ध नहीं थे, जिस कारण उन्होंने बौद्धों की तकलीफ को रेखांकित नहीं किया ? मेरा यह प्रश्न विवाद पैदा करेगा। किंतु इस ओर हमें सोचना चाहिए। सरहपा ने 'बौद्धगान ओ दोहा' में संकलित पंक्तियों में एक बार बुद्ध का नाम लिया है। किंतु किस संदर्भ में लिया है, इस ओर ध्यान दीजिए। कबीर ने अपनी पंक्तियों में हरि, राम आदि का नाम बार-बार लिया है। किंतु क्या इससे कबीर वैष्णव या राम भक्त साबित होते हैं? सरहपा की उस पंक्ति को यहाँ फिर से उद्धृत कर रहा हूँ :- पंडिअ सअल सत्त बखाणई, देह हि बुद्ध वसंत न जाणई।

अर्थात् देह में ही बुद्ध हैं, शास्त्र में नहीं हैं। हो सकता है सरहपा बौद्धों को नसीहत दे रहे हों, जैसे कबीर ने हिंदुओं और मुसलमानों को दिया है ।कबीर ने अपनी रचनाओं में राम और हरि का बार-बार वर्णन किया है। तो क्या उस वजह से हम उनको राम या हरि भक्त कह सकते हैं? इस दृष्टि से इस पर विचार करना अभी बाक़ी है। सवाल उठता है, सरहपा में बुद्ध किस रूप में थे? नाम के रूप में या दर्शन के रूप में या आराध्य के रूप में या किसी और रूप में? जहाँ तक प्रज्ञा, करुणा आदि

तत्वों को देखकर हम यह अंदाजा लगाते हैं, भारत में सारे दर्शन एक दूसरे से ऐसे मिले हुए हैं, कि हम किसी एक नतीजे में पहुँच नहीं सकते। गाँधी में अहिंसा है तो क्या गाँधी जैन या बौद्ध ठहरते हैं। ध्यान देने कि बात यह है कि सरहपा में कोई एक तत्व समाविष्ट नहीं है कि उसे देखकर हम किसी एक निर्णय तक पहुँच सकते हैं। अगर देखा जाए तो सरहपा तथा अन्य सिद्धों में बुद्ध से अधिक गुरु, तंत्र, रहस्य आदि तत्व अधिक दिखते हैं।

इस दृष्टि से संकलन का नाम 'बौद्धगान ओ दोहा' भी अयुक्तिपूर्ण लगता है। दूसरे सिद्ध ने भी बुद्ध का नाम न के बराबर लिया है। वैसे तो भारत के सारे धर्म, सभी दर्शन एक दूसरे से अंगांगी जुड़े हुए हैं। अतः इस दिशा में हमें फिर से सोचना होगा कि सिद्धों में बुद्ध कितने अंदर तक प्रविष्ट हैं?

फिर से हम उस प्रश्न पर आते हैं, सरहपा का समय क्या हो सकता है? कैसे पता किया जाए? अनुश्रुतियों तथा परिकल्पनाओं के आधार पर किसी महान् व्यक्ति का ऐतिहासिक समय पता नहीं किया जा सकता। अगर किसी समय का निर्णय भी कर लिया गया, तो उसे ऐतिहासिक नहीं माना जाना चाहिए। सरहपा ने स्वयं अपनी रचनाएँ नहीं लिखीं। उनके संबंध में जो अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, वे भी उनके समय के काफी बाद यहाँ तक की 16वीं-17वीं शताब्दी के समय गढ़ी गई हैं। (तारानाथ आदि के तथ्य जिसके संबंध में धर्मवीर जी ने लिखा है कि, तारानाथ की इन कथाओं के पीछे इतिहास कम है, लोकवार्ता अधिक है15) सरहपा के तिरोधान के पश्चात् उनकी परंपरा में 'सरहपा' नाम एक उपाधि बन गयी है, जिसका इस्मेमाल उनके शिष्यों ने कई बार किया है। इसे समझने के लिए हम धर्मवीर भारती जी को सुन सकते हैं-

"जहाँ तक समय का संबंध है, यह सिद्ध परंपरा अधिक से अधिक दो या तीन शतियों की परिधि में आ जाती है, क्योंकि इनमें से बहुत से सिद्ध समकालीन थे। इनके समय का निर्णय करने के लिए अंतर्साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है। बहिर्साक्ष्य के रूप में जो सामग्री मिलती है, वह भी सर्वथा भ्रामक है।"16

सिद्ध तथा सरहपा के संबंध में इतने भ्रम क्यों हैं? क्योंकि जो भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं, वे अधिकांश संप्रदायों से जुड़े होने के कारण संदिग्ध हैं। संदिग्ध तथ्यों को इतिहास का आधार बनाना कितना सही है? इससे पहले चर्चा हो चुकी है कि भट्टाचार्य जी, राहुल जी आदि ने जो समय निर्धारण किया है, वे अनुश्रुतियों तथा अनुमान आधारित हैं। अतः इनको सरहपा के समय निर्धारण में उपयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ प्रो. बैरेकलो की उक्ति को उद्धृत करना जरूरी है-

"हम जो इतिहास पढ़ते हैं, हालांकि वह तथ्यों पर आधारित हैं, ठीक-ठीक कहा जाए तो एकदम यथातथ्य नहीं है, बल्कि स्वीकृत फैसलों का एक सिलसिला है।"17

इतिहास वैज्ञानिक साक्ष्यों पर आश्रित है, स्वीकृत फैसले कहाँ तक इतिहास बन सकते हैं, इस पर विचार करना बाक़ी है। सरहपा के समय निर्धारण से पूर्व हम भ्रामक सामग्री के विषय में दोबारा विचार कर सकते हैं। धर्मवीर भारती ने लिखा है-

"बहिर्साक्ष्य के रूप में प्रमुख आधार वे सांप्रदायिक अनुश्रुतियाँ हैं, जो तिब्बती बौद्ध ग्रंथों या भारतीय शैव(नाथ) ग्रंथों में मिलती हैं। किंतु उनके लेखकों का दृष्टिकोण अत्यंत भ्रामक, एकांगी और कल्पनारंजित है। उनमें निम्न दोष पाए जाते हैं- (क) अति- प्राकृतिक चमत्कार और सिद्धि की कथाओं ने उनमें असंभाव्य कल्पनाओं की भरमार कर दी है। (ख) साम्प्रदायिक संकीर्णता और प्रतिद्वंद्विता इतनी अधिक है कि जानबूझकर तथ्यों को तोड़ा- मरोड़ा गया है। शैव ग्रंथों में बौद्ध आचार्यों को शैवों का शिष्य माना गया है, शैवाचार्यों को प्राचीन और बौद्धों को परवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और बौद्ध ग्रंथों में यही व्यवहार शैव आचार्यों के साथ हुआ है। (ग)कभी कभी एक ही अम्नाय के कई आचार्यों को एक ही आदि सिद्ध का अवतार सिद्ध करने का प्रयास कर कई युगों तथा कई देशों में एक ही आचार्य का अस्तित्व माना गया है, जैसे तारानाथ ने विरुपा का अस्तित्व कई युगों में और कई देशों में माना है। (घ) कई स्थानों पर एक ही सिद्ध पुरुष को विभिन्न संप्रदाय अपना मान लेते थे और उसका सारा इतिहास अपने ही रंग में रंग डालते थे। मत्येंद्र के विषय में भी यही हुआ है। नेपाल में वे शिव के अवतार माने जाते थे और तिब्बत में अवलोकितेश्वर के इसी प्रकार जालंधरिपा और हाड़ीपा को एक ही मान कर यह कह दिया था कि वे दो रूप धारण करके रहते थे। पश्चिम में जालंधरीपा और पूर्व में हाड़ीपा का। (ङ) तारानाथ जिनकी साक्षी बहुत से विद्वानों ने ग्रहण की है। 16वीं या 17वीं शती में हुए थे और कभी स्वयं भारत में आए भी नहीं थे। उनकी तिथियाँ, वंशावली, संप्रदाय निर्णय बिल्कुल प्रामाणिक नहीं है। (च) तारानाथ द्वारा उल्लिखित गुरुशिष्य परंपरा भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि तत्कालीन संप्रदायों की दो तीन प्रवृत्तियाँ बहुत ही विचित्र थीं। निगुरा रहना उस समय अशुभ माना जाता था। अतः कभी कभी सिद्ध अपने गुरु ऐसे आचार्यों को परिकल्पित कर लेते थे, जो उनसे कई शती पहले हुए हैं। उन्हीं का अम्नाय ग्रहण करते थे कि मैंने उनसे व्यक्तिगत रूप से दीक्षा ली है। कभी कभी ऐसी भी कथाएँ मिलती हैं कि शिष्य पहले उत्पन्न हुआ और जब कोई भी ऐसा न दीखा जिसे वह गुरु बना सके तो उसने अपनी चमत्कार शक्ति से एक गुरु भी पैदा कर दिया। चूँकि सिद्ध अजर-अमर माने गए हैं, अतः कभी कभी बहुत पहले कई शताब्दियों पहले उत्पन्न होने वाले सिद्ध भी अपने परवर्ती सिद्धों से गोष्ठी या शास्त्रार्थ करते हुए दिखाए गए हैं। यह परंपरा संतों तक चलती रहीं और नानक तथा चौरंगी और कबीर तथा गोरख की गोष्ठी का वर्णन पाया जाता है। इन समस्त दोषों को दृष्टि में रखते हुए इन साप्रदायिक अनुश्रुतियों को किसी भी ऐतिहासिक निर्णय का आधार बनाना उचित नहीं कहा जा सकता।"18

सरहपा के काल निर्धारण के समय उपर्युक्त समस्त बातों को ध्यान में रखना चाहिए। जिन सांप्रदायिक अनुश्रुतियों के साहारे सिद्धों तथा सरहपा का काल निर्धारण किया जाता रहा है कि सरहपा अमुक राजा के समय विद्यमान थे, वे अधिकांश संदिग्ध ही हैं। सरहपा को आदि सिद्ध भी कहना तथा उससे सरहपा का काल निर्धारण करना भ्रामक है क्योंकि अन्य संप्रदाय अन्य किसी सिद्ध को आदि सिद्ध मानता है। तिब्बती अनुश्रुतियों (तिब्बत में रहकर) तथा भारतीय ऐतिहासिक दस्तावेजों (ह्वेनसांग के भारत आगमन) में भी कई बातें साम्यता नहीं रखतीं। सरहपा की रचनाओं में बौद्ध पर इस्लाम के आक्रमण का कोई ज़िक्र नहीं मिलता तथा तत्कालीन शैवादि राजाओं का बौद्ध- सिद्धों पर अत्याचार का भी कोई वर्णन नहीं मिलता। ऐसी कई बातें सरहपा के विद्यमान रहने के समय को संदिग्ध में डाल देती हैं। सिर्फ सरहपा के होने की ही बात को अगर देखें तो, धर्मवीर भारती ने इस विषय की और अच्छे से व्याख्या की है-

"चक्रसंवर- तंत्र में सरह को आदिगुरु बताया गया है। किंतु कुछ परंपराओं में लुईपा को आदि सिद्ध कहा गया है। टुची ने भी यह संकेत किया है कि शांतरक्षित की एक रचना में लुईपा का उल्लेख है। यद्यपि यह लुईपा केवल उपाधि है या नाम इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। संभव है लुईपा सरह से पहले हुए हों, क्योंकि कुछ अम्नाय ऐसा मानते हैं। पुनश्च सरह के विषय में कई तरह के उल्लेख मिलते हैं। उनका नाम राहुलभद्र है। एक राहुल कामरूप के निवासी हैं और शूद्र हैं। दूसरे राहुलभद्र हैं और तीसरे उड़ीसा के एक ब्राह्मण हैं। इनमें से राहुलभद्र सरहपा कौन हैं, यह नहीं कहा जा सकता।"19

जब तक कौन राहुलभद्र सरहपा हैं, यह नहीं कहा जा सकता तबतक हम कैसे सरहपा, जिनको आदि सिद्ध घोषित कर दिए हैं, जिनको कभी रहस्यवादी तो कभी क्रांतिकारी घोषित कर दे रहे हैं, उनका निर्दिष्ट समय निर्धारण कर सकते हैं? राहुल जी ने जिसके आधार पर सिद्धों का वंश वृक्ष दिया है, उनके बारे में धर्मवीर जी ने लिखा है-

"राहुलजी ने सिद्धों का जो वंश-वृक्ष दिया है, उसका आधार उन्होंने तिब्बत के सस्क्य मठ के पाँच गुरुओं की ग्रंथावली सस्क्य ब्कम् बुम का आधार लिया है। इन गुरुओं का समय 1091- 1279 ई. माना गया है, अतः यह तारानाथ से अधिक प्रामाणिक होगी, इनमें संदेह नहीं किया जा सकता। किंतु फिर भी जो कारण पहले गिनाए गए हैं, उनके आधार पर इसे भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।"[20]

स्वयं धर्मवीर भारती जी ने कई विद्वानों के तथ्यों से गुजरकर सरहपा का काल निर्धारण किया है कि "इस प्रकार अन्य प्रामाणिक सामग्रियों के अभाव में अभी हम जो काल-परिधियाँ अनुमानित कर सकते हैं, वे इस प्रकार हैं- लगभग 800 ई. से 875 ई. सरहपा, शबरपा, लुईपा तथा उनके समकालीन सिद्ध।..."[21]

निष्कर्षतः हम यह मान सकते हैं कि सरहपा जैसे महान् कवि के काल निरधारण आदि पर विचार करते वक्त हमें जल्दबाजी या अंध नहीं बनना चाहिए। सरहपा कई कारणों से महान् हैं। उनकी परंपरा इतनी बड़ी है कि उसमें अधिकांश भारतीय भाषाओं के आदिकाल व भक्तिकाल के बड़े कवि प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। सरहपा तथा सिद्धों की प्रतिक्रिया से गोरखनाथ जैसे नाथ आए। गोरखनाथ से ज्ञानदेव तथा नामदेव फिर कबीर- नानक आदि संत जुड़े हुए हैं। ओड़िशा में पंचसखा जो ऊपर से वैष्णव कहलाते हैं अंदर से प्रच्छन्न बौद्ध हैं और वे भी सरहपा की परंपरा में आते हैं। यहाँ तक कि जयदेव की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें सरहपा- काम, ज्ञान व रहस्य बन कर विद्यमान हैं।(इसकी अधिक संभावना है क्योंकि दोनों न सिर्फ पूर्वी-भारत के भूगोल से संबंध रखते हैं, अपितु गीति परंपरा से भी। हो न हो जयदेव में गीति-तत्व सरहपा आदि सिद्धों से अवश्य आया है।) उनकी कुछ पंक्तियाँ 'गुरुग्रंथ साहेब' में भी जुड़ी हुई हैं।[22] फिर यह और आगे बढ़ती, जो भीमभोई जैसे संत कवियों तक फैली हुई है। सरहपा ने अपनी परंपरा में न सिर्फ समय को लांघा है बल्कि भूगोल का भी अतिक्रमण किया है। विद्वानों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि सरहपा से संबंधित सबकुछ, वैज्ञानिक साक्ष्य आधारित हो। कुछ हो न हो, कम से कम सही काल निर्धारण की कोशिश तो होनी ही चाहिए, जबतक यह संभव नहीं हुआ है तबतक किसी निर्दिष्ट नतीजे पर नहीं पहुँचना चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि धर्मवीर जी ने भी कोई निर्दिष्ट काल निर्धारण नहीं किया है, बल्कि काल परिधि में सरहपा के विद्यमान होने के समय को रखा है। किंतु तथापि यह कह पाना मुश्किल है कि सरहपा उपर्युक्त काल परिधि के अंतर्गत आते हैं। दरअसल निर्दिष्ट काल निर्धारण करना अभी कठिन है। क्योंकि सरहपा जैसे कवि की सारी रचनाएँ अभी प्राप्त नहीं हुई हैं, अतः उनके वर्तमान रहने के संबंध में कुछ भी पुख्ता नहीं कहा जा सकता। तब तक हमें सरहपा को लेकर यह निर्दिष्ट नहीं होना चाहिए कि सरहपा उक्त राजा या उक्त वर्ष विद्यमान थे। तिब्बत में अभी भी सरहपा को लेकर तथ्य विद्यमान हो सकते हैं। इस ओर अधिक शोध की आशा है।

संदर्भ :

1."विशिष्ट ऐतिहासिक डॉ. नवीन कुमार साहु ने कहा है, ओड़िशा म्युज़ियम में जो अवलोकितेश्वर की मूर्ति सुरक्षित है, उसके निम्नभाग में एक अभिलेख संरक्षित है, जिसमें लिखा है- इस मूर्ति को महामंडलाचार्य परमगुरु राहुलरुचि ने शुभाकर देव के राज्यकाल में प्रतिष्ठित किया था।डॉ. साहु ने राहुलरुचि को सिद्ध सरहपा माना है और शुभाकर देव को 790-839 ई. के बीच विद्यमान रहने को माना है।"- *चर्यागीति,* सुरेंद्र कुमार महारणा, जगन्नाथ रथ पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता कटक, दूसरा संस्करण- 2020, पृ. 20

2.मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका,* हरियाणा ग्रंथ अकादमी, 2014, पृ. 68

3.वही, पृ. 69

4.धर्मवीर भारती, *सिद्ध साहित्य,* लोकभारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2016, पृष्ठ- 49

5.वही, पृ. 42-43

6.वही, पृ. 43

7.वही, पृ. 46

8.रामकुमार वर्मा, *हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,* 1958, पृ. 41

9.धर्मवीर भारती, *सिद्ध साहित्य,* लोकभारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2016, पृ. 45

10.वही, पृ. 45

11.राहुल सांकृत्यायन, *दोहा-कोश,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1957, पृ. 2

12.वही, पृ. 2

13.वही, पृ. 3

14.राहुल सांकृत्यायन, *हिंदी काव्यधारा,* किताब महल, इलाहाबाद, 1945, पृ. 21

15.धर्मवीर भारती, *सिद्ध साहित्य,* लोकभारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2016 पृ. 49

16.वही, पृ. 15

17.ई. एच. कार, *इतिहास क्या है?* , ट्रिनिटी प्रेस, द्वितीय संस्करण, 1987, 2016 पृ. 7

18.धर्मवीर भारती, *सिद्ध साहित्य,* लोकभारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2016, पृ. 17

19.वही, पृ. 19

20.वही, पृ. 40

21.वही, पृ. 45

22.परशुराम चतुर्वेदी- *कबीर साहित्य की परख,* भारती भंड़ार प्रयाग, 1954, पृ. 15

करमचंद
शोधार्थी, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद
20hhhl04@uohyd.ac.in, 75046 81454

अपनी माटी (ISSN 2322-0724 Apni Maati) *अंक*-41, अप्रैल-जून 2022 **UGC Care Listed Issue**

सम्पादक-द्वय : माणिक एवं जितेन्द्र यादव, चित्रांकन : सत्या सार्थ (पटना)